मुझसे मिलने आना

लेखक

अजय चौहान

इरा पब्लिशर्स, कानपुर

ISBN : 978-81-952896-0-8

- पुस्तक का नाम : **मुझसे मिलने आना**
- लेखक का नाम : **अजय चौहान**
- © अजय चौहान
- **प्रथम संस्करण : 2021**
- **मूल्य : ₹ 162/- मात्र**
- *शब्द सज्जा* : **श्री हरि ग्राफिक्स**
- *आवरण चित्र :* **अजय चौहान**
- *मुद्रक :* **प्रिन्ट स्टॉप**
- प्रकाशक :
  इरा पब्लिशर्स
  405 बी, सी, नवशील ज्योति अपार्टमेंट
  127/219-ए, जूही कलां, किदवई नगर,
  कानपुर नगर-208014, उ०प्र०, भारत
  e-mail : irapublishers@gmail.com
  www.iraimaginations.com
  www.facebook.com/irapublishers.in

समर्पण

माँ स्व० श्रीमती कुसुम सिंह

और

पापा स्व० श्री मुन्ना सिंह

को समर्पित

जिनके कारण मेरा अस्तित्व और व्यक्तित्व है..

माँ ने भावनाओं की समझ दी और पापा ने बेफ़िक्री,

जिनके कारण मैं इस स्वप्न संसार में निर्भीक हो

विचरण कर सका...

मानव मनोविज्ञान एवं सम्वेदनाओं का कुशल चितेरा

एक स्वस्थ और मानवीय समाज की संरचना में कहानियाँ हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता हैं। आज के अर्थ और यंत्रचालित युग में मानव चित्त के विस्तार और भावों के परिष्कार की दृष्टि से कहानियों की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ी है। पेशे से अधिवक्ता अजय चौहान की कहानियाँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

संग्रह में प्रकाशित छोटी–छोटी कहानियाँ अपनी कहन और प्रभाव शक्ति में भी उत्कृष्ट बन पड़ी है। उनकी कहानियाँ आधुनिक समाज, विशेषकर युवा पीढ़ी के सहज और अकृत्रिम विचारों का दर्पण हैं तो उनके प्रेम का उदात्त रोमानीपन या सूफ़ियाना अंदाज़ हमें आकर्षित करता है। 'ख़ुश रहना सुनन्दा' तथा 'मुझसे मिलने आना' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'दीदी मत कहो' की अपराजिता, 'अपाहिज कौन' की नेहा या 'उसने क्या देखा' की माला के माध्यम से स्त्री–जीवन के दुःख, संघर्ष और जिजीविषा का जैसा चित्रण कहानीकार ने किया है, नये लेखकों मे कम ही देखने का मिलता है। 'स्थितप्रज्ञ भवः' उच्च शिक्षित बेरोज़गारों की समस्या, 'अबोली कहानी' कन्या भ्रूण हत्या तथा 'बिखरे सपने' एक निर्धन किसान की कहानी है, जो अपनी बेटी के विवाह का सपना संजोये एक दुर्घटना में इस संसार से विदा हो जाता है।

उपभोग और बाज़ार की वर्तमान दुनिया में जहाँ सारी प्रश्नाकुलता और इच्छाओं का समाधान सिर्फ़ और सिर्फ़ धन पर जाकर होता है, तब पारिवारिक ज़िम्मेदारियों के बोझ तले दबे संजय की अचानक मृत्यु पर

उसकी आत्मा द्वारा यमराज से परिवार के लिए यथावश्यक अर्थ की आकांक्षा 'फिर नचिकेता' जैसी कहानी को जन्म देती है। 'लव बर्ड्स प्वॉइंट' तथा अन्य सभी कहानियाँ न सिर्फ़ अपने विषय और शिल्प में महत्वपूर्ण हैं, वरन् आज की संवेदनशून्य व्यवस्था पर आघात करती है। लेखक का पहला संग्रह होने के बावजूद मानव मनोविज्ञान और संवेदना की दृष्टि से भी ये कहानियाँ उत्कृष्ट हैं।

– डॉ० राकेश शुक्ल

भूमिका

हम किसे कह सकते हैं कि यह कहानी है। क्या सदैव से हमारे परिचित रहे, कुछ परम्परागत विषय ही कहानी को गढ़ने की स्वतन्त्रता देते है या हम किसी भी विषय पर कहानियाँ लिख सकते हैं। क्या कल्पनाएँ और वास्तविक घटनाएँ स्वतन्त्र रूप से अलग–अलग कहानी को जन्म दे सकती है या कि इनका एकाकार होना आवश्यक है। मेरा मानना है कि जब आप भावनाओं को महसूस करना सीख जाते हैं, जब किसी घटना को आप सम्यक रूप में देखना, उसके न दिखने वाले तत्वों को भी अपनी अंतरदृष्टि से देखना सीख जाते हैं। उस दिन आप एक लेखक की तरह सोचना शुरू कर देते हैं और उसी दिन से आपके अन्दर कहानियाँ जन्म लेने लगती हैं।

जिसे नासमझ उम्र कहा जाता है, उसी उम्र में था मैं जब किसी ने मेरे जन्मदिन पर उपहार स्वरूप मुझे मुंशी प्रेमचंद जी द्वारा लिखा गया उपन्यास ''प्रतिज्ञा'' दिया। उसे पढ़ने के बाद मैंने ढूँढ कर, माँग कर, मुंशी प्रेमचंद जी के लगभग पूरे साहित्य को पढ़ डाला, फिर शरतचंद्र, शिवानी, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, लगभग सभी प्रसिद्ध भारतीय साहित्य के पुरोधाओं की सभी किताबों को पढ़ा। मेरे इस साहित्यिक शौक़ ने मुझमें साहित्यिक समझ के साथ–साथ भाषायी सामर्थ्य को भी बढ़ाया, मुझे अभिव्यक्त करना सिखाया। अभिव्यक्ति के लिये शब्दों का एक विशाल संग्रह मुझे दिया। आस–पास की हर घटना को महसूस करना, प्रत्यक्षतः जिस चीज़ का लोप हो, उसे भी समझना सिखाया।

मैं यह नहीं कहता कि मेरी हर कहानी सच्ची है, यह भी नहीं कहूँगा

कि पूरी कहानी कोरी कल्पना है। विषय सामाजिक हों या व्यक्तिगत, घटित हमारे आस–पास ही होते हैं, बशर्ते हम उन्हें लेखक की दृष्टि से देख पायें, समझ पायें तो कहानी अपना आकार ले लेती है।

फिर भी हर चीज़ देखने का सबका अपना एक नज़रिया होता है, ज़रूरी नहीं कि मेरे नज़रिया से कोई दूसरा भी इत्तिफ़ाक़ रखे, उसका अपना भी नज़रिया हो सकता है, दोनों ही सूरतों में कुछ न कुछ तत्व तो निकल कर आता है, सहमत हैं तो प्रशंसा और असहमत हैं तो आलोचना।

मैं जिस बात को जिस नज़रिये से देख सका, समझ सका, वैसा ही लिखा। मैंने अनाज के छोटे–छोटे बीजों में बड़े–बड़े सपनों को सँजोया और इस हद तक सँजोया कि बिखर कर भी वो मुझे 'बिखरे सपने' जैसी एक कहानी दे गये। सम्मान पाने की लालसा ने अगर 'फिर नचिकेता' को जन्म दिया तो सम्मान की पराकाष्ठा से उपजी पीड़ा ने मुझे 'दीदी मत कहो' को लिखने की प्रेरणा दी। प्रेम को जिस तरह से लिखा वो अलग विषय हो सकते हैं पर हम उन्हें मनगढ़ंत नहीं कह सकते हैं। हाँ, 'लव बर्ड्स प्वॉइंट' का कथानक आप को गुदगुदा देने की सामर्थ्य भी रखता है।

यह मेरा पहला प्रयास है, आप की प्रशंसा और आपकी आलोचना मुझे प्रेरित भी करेगी और मेरा मार्गदर्शन भी करेगी। अन्त में मैं और मेरी कहानियाँ आपकी प्रशंसात्मक या आलोचनात्मक समीक्षा से यह कहना चाहते हैं कि ''मुझसे मिलने आना''।

– अजय चौहान

प्रकाशक की कलम से

अजय चौहान व्यवसाय से अधिवक्ता हैं और मन से एक बेहद संवेदनशील व्यक्ति, जिनको अपने आस–पास की घटनायें उद्वेलित करती हैं। आप जीवन की रोज़मर्रा की घटनाओं पर पैनी नज़र रखते हैं और उनमें से कई घटनाएँ उनके मानस–पटल पर छप कर रह जाती हैं और वह धीरे–धीरे कुछ वक़्त में उनके अन्तस में एक पुष्ट कहानी का स्वरूप ले लेती हैं। अजय जी उस कहानी को शब्दों में ढालकर बड़ी ही ख़ूबसूरती से मूर्त रूप दे देते हैं। जिसे पढ़ कर पाठक भी कभी उद्वेलित तो कभी अचंभित हुए बिना नहीं रह सकता।

आप छंद–मुक्त कविताएँ भी लिखते हैं। आपकी कविताएँ कई साझा–संकलनों में एवं साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। यद्यपि अजय जी का कहानी का यह पहला संकलन है परन्तु उनकी भाषा–शैली, कथ्य एवं शिल्प कहीं से भी कमज़ोर नहीं लगता, उनमें एक मँझे हुए लेखक के सभी गुण विद्यमान हैं। आप उस पुष्ट बीज की भाँति हैं जो अपने भीतर भविष्य की अपार संभावनाएँ समेटे हुए है।

आपके सुनहरे भविष्य के लिए हार्दिक शुभेक्षा।

– अलका मिश्रा

अनुक्रमणिका

1.	खुश रहना सुनन्दा	11
2.	उसने क्या देखा	16
3.	फिर नचिकेता	18
4.	बिखरे सपने	22
5.	मुझसे मिलने आना	26
6.	दीदी मत कहो	38
7.	मुझे वह उलझन दे दो	45
8.	अपाहिज कौन	48
9.	स्थित प्रज्ञ भवः	54
10.	अबोली कहानी	57
11.	लव बर्ड्स प्वॉइंट	60
12.	प्रतिशोध	64
13.	चवन्नी	72
14.	लैम्पपोस्ट	76
15.	उद्धार	81
16.	मेरा शायद लौटा दो	85
17.	तुम याद रहोगी	95
18.	खुदकुशी	101

ख़ुश रहना सुनन्दा

सुनन्दा, हाँ यही नाम है उसका। मैं यह भी नही कह सकता हूँ कि यही नाम था उसका, क्योंकि अब मेरी ज़िन्दगी से दूर है वह, पर चूँकि अभी इसी दुनिया में है, तो 'था' कहना उचित नहीं लगता, मन कचोट जाता है।

हाँ, तो सुनन्दा ही है जिसने एहसास कराया कि मीठी हवा का झोंका कैसा होता है, सुबह खिली–खिली कैसी होती है, आसमान में तारे देखना भी अच्छा लगता है, मौसम ख़ुशनुमा कैसे होता है। वैसे टीन एज में ये सारे एहसास उम्र के तक़ाज़े से हो चुके होते हैं, पर 40 की उम्र के बाद इन एहसासात का दोहराव, एक अलग ही अनुभूति होती है। क्यों कि यह ज़िम्मेदारियों के बोझ से दबने का समय होता है, पर कोई अचानक आ कर समय चक्र को उल्टा चला दे तो? सुखद अनुभूतियाँ फिर से जीवित हो उठती हैं।

ऐसा नहीं था कि सुनन्दा मेरे लिये अपरिचित थी, हाँ, उसका यह रूप ज़रूर अपरिचित था जिसके मोहपाश में मैं बँधता चला गया। ठीक–ठीक तो याद नहीं पर फिर भी उस समय वह छोटी थी, कम से कम इतनी छोटी कि मेरा उसकी तरफ़ ध्यान न जाना कोई बड़ी बात नहीं थी।

मेरी ज़िन्दगी अपने ढर्रे पर चलती जा रही थी, थोड़ा मेरा स्वभाव जो कि उन्मुक्त था, मुझे प्रेरित करता था जीने के लिये। तक़लीफ़ें कहने की आदत नहीं थी और हँसते रहना मेरी पहचान। शायद ऐसे ही किसी समय पर बस ऐसे ही मज़ाक–मज़ाक में सुनन्दा से भी बात होने

लगी। हाँ, हम दोनों दूसरे शहरों में थे पर सोशल मीडिया ने हमें मौक़ा दिया एक दूसरे से जुड़ने का। लेकिन उससे बात करना हमेशा अच्छा लगता था पर जब तक बातें होती रहीं दूर रह कर तब तक ऐसी किसी भी भावना ने मन में घर नहीं बनाया क्योंकि आँखों में बस उसका बचपन ही था।

कई वर्षों बाद जब सुनन्दा से मिला, तो पता ही नहीं चला कि मन उसकी तरफ़ झुक गया है। सुनन्दा, अब वह सुनन्दा नहीं थी जिसे मैं जानता था। अनजाने में ही उसका चेहरा अचानक आँखों के आगे आ जाता और मन अनजानी ख़ुशियों से भरने लगता। मन क्या चाहता है, क्यूँ चाहता है, जो चाहता है उसकी परिणति क्या होगी कभी सोचा ही नहीं, बस मन जिधर ले चला उस ओर ही मैं भी चल दिया।

अक्सर सुनन्दा से मुलाक़ात होते रहना, मन मौक़ा ढूँढता उससे मिलने का। उम्र, रिश्ता सब बातें ज़ेहन से निकल गईं, रह गई तो बस सुनन्दा। यह भी नहीं सोच पाया कि मुझ में और सुनन्दा में उम्र का एक बड़ा फ़ासला है, यह भी नहीं कि इस रिश्ते की कोई मंज़िल नहीं है, शायद मन में ये बातें आयी हों पर मैंने ही उन्हें सिरे से ख़ारिज कर दिया।

अक्सर उससे कह देता कि काश तुम थोड़ा पहले मिली होतीं और वह भी उस मज़ाक पर ख़ूब हँसती। कह देती मैं क्या करूँ आपको ही जल्दी थी। पता नहीं चल पाता कि उसके मन में क्या है? मेरी सारी बातें उसे मज़ाक लगती हैं या उसके मन में भी कुछ है। सदी के महानायक की 'चीनी कम' फिर 'निःशब्द' कई बार देख डाली, पता नहीं उनमें से कोई हल ढूँढने की कोशिश करता था या ख़ुद को सही साबित करने का प्रयास। लेकिन हमारे बीच जो भी था वह बहुत अलग था। उसका मुझ पर अगाध विश्वास मुझे प्रेम लगता और मेरा प्रेम मुझ पर उसके विश्वास करने का कारण बनता। बीतते समय के साथ मैं मज़ाक–मज़ाक में अपना मन सुनन्दा के आगे खोलता रहता वह भी बड़े उन्मुक्त मन से मेरी बातों

को स्वीकार करती जाती।

फिर एक दिन उसने बताया कि वह किसी से प्यार करती है, मुझे लगा कि मुझे बुरा लगना चाहिए पर सच बताऊँ तो नहीं लगा। सोचा, यह तो होना ही था, आख़िर उसे कभी न कभी किसी न किसी के साथ तो जुड़ना ही था। पर मुझसे वह वैसे ही बात करती रहती। कभी अपनी, कभी अपने हमसफ़र की बातें बताती।

कितनी ही बार ख़्वाबों में उसे बाँहों में समेटा होगा, याद नहीं, कितनी ही बार उसे महसूस किया होगा यह भी याद नहीं शायद उसे भी इसका पता नहीं होगा। मेरी कल्पना में उसका होना तो मुमकिन था पर ज़रूरी तो नहीं कि उसकी कल्पना में मैं भी रहा होऊँ। ऐसे ही कई रातें मैंने उसे बाहों में लिये बिताई होंगी, बिना उसे ख़बर हुये। भावनाओं की देह नहीं होती लेकिन वो शिद्दत से महसूस होती हैं। जैसे–जैसे सुनन्दा की शादी का समय पास आ रहा था मन खोया–खोया सा रहने लगा। सब समझ कर भी न समझना चाहता था। लेकिन किसी निष्कर्ष पर तो पहुँचना ही था। उसके साथ रहूँ इसकी इजाज़त न तो समाज दे सकता था, न ही मेरी परिस्थितियाँ और शायद वह भी नहीं। मैं भी कुछ ऐसा नही करना चाहता था कि जिस वजह से सुनन्दा के मन में जो मेरा मुकाम है उसे खो दूँ। उसे पूरा तो कभी नहीं पा सकता मगर जितना पाया है, उतना भी खो दूँ, यह नहीं चाहता था।

मन चाहता था कि ज़िन्दगी में कभी कोई शायद न रहे। इसलिए टुकड़ों में ही सही सुनन्दा से सब कह दिया। मुझे जितना लगता था, वह उससे भी ज़्यादा समझदार थी। मेरी परिस्थतियों को और किन वजहों से मैं ऐसा सोच पाया था, मेरा सोचना जायज़ था या नाजायज़, सब बातों को दरकिनार कर उसने मेरे सारे शब्दों को पनाह दी।

वह जिसे मज़ाक समझती थी उसे सच मान कर भी जब सहज शब्दों में उसने कहा कि ''विप्लव, तुम मेरी ज़िन्दगी में पहले हो, पहले ही रहोगे, तुम पर एक विश्वास था कि मुझे जब भी ज़रूरत होगी मैं तुम्हें पुकार

सकती हूँ। तुम हमेशा रहोगे मेरे लिये। जीवन का सफ़र चाहे जिसके साथ हो, तुम हर समय साया बन कर साथ रहोगे। हाँ, हम कभी एक नहीं हो सकते पर हम कभी अलग भी नहीं होंगे। मेरे दिल में जो तुम्हारी जगह है, वह कभी कोई नहीं ले पायेगा। तुम से वो सारी बातें कह सकती हूँ जो शायद कभी किसी से न कर सकूँ। कोई झिझक, कोई बात मुझे ख़ुद को तुम्हारे सामने खोलने से नहीं रोक पाती, तुम्हारे लिये जो है वैसा एहसास कभी किसी के लिये न था और न कभी होगा।''

अब न किसी शायद की कोई गुंजाइश थी न किसी और बात की। सुनन्दा ने न मुझे स्वीकार किया था, न अस्वीकार। न मेरे पास थी, न मुझसे दूर। एक अजीब सी कैफ़ियत थी दिल की, ख़ुशी और ग़म के बीच की अगर कोई जगह होती है तो बस वहीं पर था मैं।

सुनन्दा यह सब कह पाई, कर पाई, शायद इसलिये कि वह मुझे कभी वैसे नहीं देखती थी जैसे मैंने उसे देखा था। मैं अब क्या करूँ, मुझे किसी निर्णय पर पहुँचना ही था, ऐसा निर्णय जो किसी को चोट न पहुँचाये। किसी का दिल न टूटे, किसी का विश्वास न टूटे, ख़ास कर सुनन्दा का, उसकी आँखों में अपने लिये जो देखने की आदत थी उस एहसास को खोना नहीं चाहता था। उसे कभी दिल से निकाल नहीं सकता था, लेकिन यह ज़ाहिर भी नही कर सकता था।

सामने टेबल पर सुनन्दा की शादी का कार्ड रखा था, मुझे ज़रूर आना है, कितनी ही बार कहा था उसने, लेकिन मैं शायद न जा सकूँ, क्या कहूँगा उससे कि क्यों नहीं आया मैं? जब कुछ न समझ आया तो एक आख़िरी पत्र सुनन्दा को लिखा।

सुनन्दा,

पता नहीं तुम मुझे माफ़ कर सकोगी या नहीं पर हो सके तो मुझे समझने की कोशिश करना। मैं कभी ग़लत नहीं था और न अब होना चाहता हूँ, पर इन्सान हूँ भगवान नहीं। जो इन्सानों को महसूस होते हैं वो सारे ही एहसास मुझमें भी हैं, तुमने मुझे समझा पर मैं अभी ख़ुद को समझा

नहीं पाया हूँ, मैं अभी इतना मज़बूत नहीं कि तुम्हें ऐसे जाते हुये देख सकूँ। लेकिन हमेशा तुम्हारी ख़ुशी चाहता हूँ, इसके लिये ज़रूरी है कि मैं अपनी जज़्बाती दुनिया के साथ तुमसे दूर रहूँ। तुम जहाँ भी रहो, हमेशा ख़ुश रहो। तुम जब चाहो मुझे पुकार लेना, पर मैं कभी तुम्हें आवाज़ नहीं दूँगा। उम्मीद है तुम मुझे समझ पाओगी।

ख़ुश रहना सुनन्दा।

विप्लव

—o—

उसने क्या देखा

माला बहुत देर से आईने के सामने बैठ कर ख़ुद को देख रही थी। प्रांजुल के न रहने के बाद, उसकी निशानी, अपनी बेटी में ही रम गई तो सजना सँवरना भी छूट गया। आठ साल की थी आरूषी, जब प्रांजुल एक रोड एक्सीडेंट में नहीं रहा। पता ही नहीं चला कि कब बारह वर्ष बीत गये और आरूषी बीस साल की हो गई। माला के ऑफिस का ही एक सहकर्मी सुनील जो उससे उम्र में दो वर्ष छोटा था, लगभग एक साल से माला को यह एहसास दिलाने की कोशिश कर रहा था कि वह उसे पसन्द करता है। पहले तो माला उससे कटती थी पर आख़िर कब तक ? एक ही जगह दिन भर साथ रहना, फिर पुरूष के साथ और स्पर्श को महसूस किये उसे अरसा हो गया था तो अब वह बढ़ावा तो नहीं देती लेकिन उसे बढ़ने से रोकती भी नहीं थी। फिर भी यह यक्ष प्रश्न था उसके सामने कि आख़िर सुनील क्यों उसकी तरफ आकर्षित हो रहा है, कई बार वह स्वयं इस प्रश्न का उत्तर चाहती थी, पर ख़ुद को ही ख़ुद के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाती थी।

आज भी घर में ख़ुद को अकेला पा आईने के सामने बैंठ कर ख़ुद को देख कर स्वयं में उस सम्भावना की तलाश करने लगी। नैन–नक्श साधारण से, चेहरे का लावण्य कब का साथ छोड़ चुका था, रंग जीवन की समस्याओं में तपकर पहले से कुछ गहरा हो चला था। सम्पत्ति के नाम पर बस इतना ही कि आरूषी के हाथ पीले कर सके, उससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। मन नहीं माना तो कमरा अच्छे से बन्द कर आईने के सामने

निर्वसन हो कर सारे उतार–चढ़ाव में यौवन की कसावट ढूँढने लगी कि शायद वहाँ कुछ मिल सके पर नहीं, यह भी नहीं था, फिर?

उस फिर को तलाशते हुए उसकी नज़र आईने पर पड़ी, जिसमें उसके ठीक पीछे की दीवार पर उसकी और आरूषी की तस्वीर टँगी थी। ऐसी ही एक तस्वीर उसकी ऑफिस टेबल पर भी लगी थी। माला कुछ देर उस तस्वीर को देखती रही और अचानक जैसे सहम सी गई। माला समझ गई थी कि उसने क्या देखा।

—o—

फिर नचिकेता

उसकी दुनिया बहुत छोटी थी, पत्नी, एक बेटा, एक नन्हीं सी बेटी और पिता पर ख़ुशहाल थी। अगर यह कहूँगा कि ख़ुशहाल थी तो कहानी ख़त्म हो जायेगी। छोटी सी दुनिया थी मगर दुनिया कितनी भी छोटी हो ख़्वाहिशें, ज़रूरतें तो बड़ी होती हैं न, कम से कम उसकी हद में तो नहीं थीं। रोज़ ज़िन्दगी से संघर्ष करना उससे अपनी ज़रूरतें पूरी करने की लड़ाई लड़ना, मगर हर बार इन्सान ही जीतेगा तो क़िस्मत कहाँ जायेगी, आख़िर क़िस्मत नाम की भी तो कोई शय है इस दुनिया में।

सबकी अपनी–अपनी ज़रूरतें, साधन केवल वह, फिर भी कोई कमी हो जाती तो उसके हिस्से में मात्र वितृष्णा ही आती। वह स्वयं की नज़रों में ही शर्मिन्दा हो जाता, फिर बाक़ी सबकी चुभती निगाहों की तो आदत सी हो गई थी, पर अपने आप से कैसे बच सकता था। स्वाभिमान, आत्मसम्मान, हैं तो किताबी शब्द पर जब आदमी के अस्तित्व से दूर होने लगते हैं तो महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

वह पिता की आँखों में स्नेहासिक्त ममता ढूँढता तो बच्चे की आँखों में अपने लिये आदर और पत्नी की आँखों में प्यार पर हर बार उसकी कोशिशें कम रह जातीं और हमेशा की तरह केवल घृणा, उफ् धिक्कार। उसे स्वयं से ही घिन आती और स्वयं पर ही दया भी आती पर उसका कोई मोल नहीं था, मगर कोशिशें जारी थीं।

अरे! यह क्या? मैं तो स्वयं ही उलझ गया। कहानी के मुख्य पात्र का कुछ नाम भी तो होना चाहिये, चलिये आप ही कोई नाम दे दीजिये। कुछ भी जो अपने बीच का लगे ऐसे कितने ही किरदार हमारे आस–पास रहते

हैं। चलिये कहानी कहनी है तो मैं ही एक नाम दे देता हूँ, संजय, हाँ यही नाम है उसका। अरे नहीं, नहीं यही नाम 'था' उसका। अगर अभी होता तो कहानी कैसे पूरी होती।

उस दिन शाम को जब वह लौटा तो जैसा कि उसे विश्वास था सबकी आँखों में रिक्तता थी जैसे उसका आना–जाना महत्वहीन सा हो, वहीं जिस चारपाई पर बेटा बैठा पढ़ रहा था उसी के एक कोने पर वह भी बैठ गया, हारे हुये योद्धा की तरह। बेटा कोई पौराणिक कहानी पढ़ रहा था 'नचिकेता' नाम था उस पौराणिक कहानी के मुख्य पात्र का, कहानी का पात्र भी उसे कुछ अपने जैसा लगा। वह भी तो नचिकेता की तरह प्यार का भूखा था सबको ख़ुश देखना चाहता था। काश उसे भी कोई ऐसा वरदान दे सके तो वह सबकी खुशियाँ और अपना सम्मान माँग ले। पर कौन दे सकता था? उसे ऐसा वरदान, सोचते–सोचते वह थक गया पर न कोई जवाब देने वाला था न किसी ने दिया।

संजय जिस जगह काम करता था वह एक कंस्ट्रक्शन कम्पनी थी, जिसमें वह सुपरवाइज़र के पद पर कार्यरत था। मज़दूरों से काम कराना, उनका हिसाब–किताब देखना यही उसका काम था। उस दिन भी हमेशा की तरह ट्राली वाली लिफ़्ट में बैठा पन्द्रहवें माले में चल रहे काम को देखने की ग़रज़ से ऊपर, और ऊपर लिफ़्ट पर सवार उठता जा रहा था पर यह क्या लिफ़्ट अचानक दुगने वेग से नीचे क्यों जाने लगी ? वह चिल्लाया पर कोई कुछ समझ पाता उसके पहले ही लिफ़्ट ने धरती को छुआ और संजय वहीं उसी जगह अपनी सारी ख़्वाहिशें लिये अपनी कोशिशों के साथ कई टुकड़ों में बिखर गया।

आँख खुली तो देखा साक्षात यमराज उसके सामने थे पहले तो डरा फिर अचानक उसे नचिकेता की बात याद आई तो एक उम्मीद जाग उठी उसके अन्दर कि हो न हो, यह वही यमराज हैं अगर नाचिकेता को वरदान दे सकते हैं तो शायद मुझे भी दे दें। संजय ने यमराज की तरफ़ देखा, यमराज ने भी उसे देखा, संजय की आँखों में डर, उत्साह, विकलता,

जिज्ञासा और ख़ुशी के मिले जुले भाव देखकर असमंजस में पड़ गये, सोचा ये कलयुग में पहला व्यक्ति है जिसकी आँखों में केवल डर नहीं और भी बहुत कुछ है, अब यमराज की जिज्ञासा जाग उठी, पौराणिक काल का पहला जिज्ञासु नचिकेता उनकी आँखों के आगे फिर घूम गया बस वय का फ़र्क़ था और थोड़ा सा फ़र्क़ यह भी कि नचिकेता स्वयं उनके पास आया था और संजय के पास वह आये थे अगर कुछ समान था तो वह थी उत्सुकता, जिज्ञासा। यमराज की आँखों की उत्सुकता ने संजय को बल दिया और वह उत्सुकता को शब्द देने का प्रयास करने लगा, ''क्या आप मुझे भी वरदान दे सकते हैं?'' दुविधा और घोर दुविधा, फिर भी यमराज के मुँह से निकल गया,''क्या वरदान चाहते हो?'' संजय ने कहा,''अपने पूरे परिवार को ख़ुश देखना चाहता हूँ, उनकी आँखों में अपने लिये प्यार देखना चाहता हूँ, सम्मान देखना चाहता हूँ।'' अब यमराज की आँखों में दुविधा का स्थान आश्चर्य ने ले लिया। क्या वक़्त अपने आप को दोहरा रहा है पर फिर भी अभी पूरा परखना बाकी था। फिर पूछा, ''और भी कुछ चाहिये?'' संजय ने काँपते शब्दों में कहा, ''नहीं और कुछ नहीं, ज़िन्दगी भर यही एक काम था जो मुझसे नहीं हो सका। बस यही एक ख़्वाहिश है। यमराज समझ गये, वक़्त का दोहराव नहीं यह कलियुग का नचिकेता है। कलयुग में ज्ञान की नहीं भौतिकवाद की महत्ता है। यमराज ने सीधे उसकी आँखों में देख कर कहा कि क्योंकि तू कलयुग का पहला जिज्ञासु है, तो तुझे तेरा इच्छित वर देता हूँ। यमराज ने मुस्कुरा कर कहा, ''तथास्तु, ऐसा ही हो''। आस–पास भीड़ इकट्ठी हो गई थी मैंनेजमेंट ने तुरन्त उसके घरवालों को बुलवाया। सब रोते–कलपते आये। आख़िर जैसा भी, जो भी था सहारा था वह उनका, सब न सही कुछ तो ज़रूरते पूरी होती ही थीं सबकी, वह सहारा भी अब नहीं रहा।

प्रबन्धन ने तुरन्त क्रियाकर्म के लिये 25,000 रु. उसके बूढ़े पिता के हाथों में रख दिये और 10 लाख के आर्थिक सहयोग और बच्चों की पढ़ाई का जिम्मा ले लिया। पिता की बूढ़ी आँखों में अभी तक जो आँसू थे, उनके

पीछे चिन्ता थी पर अब जब इतना आश्वासन मिल चुका था, तो चिन्ता की जगह बेटे की मृत्यु का ग़म आ चुका था। पत्नी की आँखों में अब पति के लिये प्यार था और पीड़ा इस बात की थी कि वह प्यासा ही रह गया पर दो घूँट प्यार के क्यों न पिला पाई उसे। और बच्चे अभी भावनाओं की हर विधा से परिचित नहीं थे फिर भी पिता का न होना, उन्हें यह आभास तो करा रहा था कि यह पिता शब्द का सम्बोधन अब वह कभी नहीं कर पायेंगे, एक अप्रत्यक्ष छाँव जो उनके सर पर थी, अब नहीं रही।

अब संजय की आत्मा ने नज़दीक जा कर उन आँखों में झाँका, देखा और देखता ही रहा। शायद यही होता है स्नेह, यही होता है सम्मान जो आज उसकी आँखें उसके अपनों की आँखों में देख पा रही थीं, क्या हुआ अगर वह जीवित रहते यह नहीं पा सका। पर आख़िर आत्मसम्मान, स्वाभिमान केवल शब्द नहीं होते न, इनके ऊपर ज़िम्मेदारियाँ लिपटी होती है। जब उन ज़िम्मेदारियों की गिरह आप खोल पाते हैं तथी ये शब्द, इन शब्दों के मायने आप को मिलते हैं। क़ीमत इनकी कुछ भी नहीं और कभी–कभी अपनी ज़िन्दगी दे कर चुकानी पड़ती है। आख़िर नचिकेता होना सामान्य बात तो नहीं।

—o—

बिखरे सपने

''कंडक्टर साहब अभी कितना टेम और लगेगा'', रामसजीवन लगभग गिड़गिड़ाते हुए बोला। कण्डक्टर ने जलती नज़रों से उसे घूरा पर बोला कुछ नहीं, बिना कहे ही रामसजीवन समझ गया कि अब चाहे जितनी भी देर लगे उसे कण्डक्टर से कुछ पूछना नहीं है। उसने बगल में बैठे एक बाबू साहब टाइप के लड़के से पूछा,''बाबू कै बजा है?''

लड़के ने बुरा सा मुँह बनाते हुये, अहसान लादने वाले लहजे में जवाब दिया, ''नौ बजे से कुछ ऊपर का टैम हो गया है।'' रामसजीवन झोंके में बोला, ''कितना ऊपर?'' अब तो बाबू साहब तमक गये, ''तुम्हें टैम बताने की नौकरी नहीं किये हैं।'' रामसजीवन थोड़ा सकपका गया। बरसों बीत गये थे साध लिये कि एक हाथ घड़ी उसके भी हाथ में बँध जाती, पर ज़िम्मेदारियों ने उसे कभी इजाज़त ही नहीं दी, वह अपनी इच्छा बरस दर बरस आगे बढ़ाता रहा और ज़िम्मेदारियाँ हर बरस पहले से ज़्यादा बड़ी होती गयीं। अब तो इच्छाओं ने भी अपनी इच्छा को एक नई सोच दे दी थी, हाथ घड़ी तो रामसजीवन को अभी भी चाहिये थी लेकिन अपने लिये नहीं, अपने छोटे लड़के सुजीत के लिये। तेज़ गति से बढ़ता हुआ रामसजीवन का शरीर अचानक हिचकोले खाकर ठहर गया और एक झटके में उसकी तन्द्रा को भंग कर गया। रामसजीवन स्वप्न संसार से यथार्थ के धरातल पर था। बस जहाँ खड़ी थी वही उसका गंतव्य था। हड़बड़ी में उतर कर जल्दी से बस में बँधी अपनी साइकिल उतारी और

सरकारी बीज केन्द्र की तरफ लगभग भागने जैसी स्थिति में वह बढ़ने लगा। अन्दर पहुँचकर उसकी आँखों ने भीड़ का मुआयना करना शुरू किया और मन ही मन उसने अंदाज़ा लगाया कि शायद दो घंटे लग जायेंगे। औरों की तरह वह भी क़तार में खड़ा हो गया और क़तार अपने हिसाब से धीरे–धीरे बढ़ने लगी। आँखों ने ज़रा सी फ़ुरसत क्या पाई, स्वप्नों ने फिर डेरा जमाना शुरू कर दिया, स्वप्न, जागती आँखों के। कोई और अगर देखता तो यही समझता कि रामसजीवन बीज खरीदने आया है पर कोई यह कहाँ जानता था कि रामसजीवन बीज के रूप में हमेशा की तरह सपने लेने आया है। सपना, अपनी बेटी के ब्याह का, ज़िम्मेदारियों ने उसे एहसास ही न होने दिया कि कब उसकी जवानी ने प्रौढ़ता की ओर क़दम बढ़ा दिये और उसकी वह नन्ही सी गुड़िया ब्याह की उम्र पर पहुँच गई। पास के ही गाँव में एक अच्छा लड़का देख कर पिछले साल रोका की रस्म कर आया था, इस बरस उसे अपनी बिटिया का ब्याह करना था। घरवाली के अपने सपने थे, रोज़ रात में जब दोनों सोने जाते तो भविष्य की बातें करते रहते कि क्या और कैसे करना है? बिटिया की शादी में। धीरे–धीरे कुछ ज़ेवर वह बनवा चुकी थी। रामसजीवन को जब यह पता चला तो उस दिन उसे एहसास हुआ कि सचमुच उसकी पत्नी कितनी सुघड़ है, वरना क्या सम्भव था कि वह एकाएक सब कर पाता। एक बड़ी चिन्ता उसके सर से उतर चुकी थी पर अभी भी बहुत से काम थे, जिनकी चिन्ता करना, व्यवस्था करना बहुत ज़रूरी था। उत्साह और चिन्ताएँ मिल कर एकाकार हो जाती थीं पर यह चिन्ताएँ सुखद थीं। धीरे–धीरे बढ़ती क़तार में कभी–कभी जब कोई ऊबता तो थोड़ा सा अपने आगे वाले को धकियाने लगता और धक्का लहर की तरह आगे बढ़ता तेजी से आख़िरी व्यक्ति तक पहुँच कर दम तोड़ देता। और हर धक्का न जाने कितने लोगों की तंद्रा भंग कर जाता और इनमें रामसजीवन भी था। फिर से सोच ने डेरा डाला, बेटी की लाल चूनर आँखों के आगे आयी। पर बेटी के ब्याह के बाद जल्दी ही बड़े बेटे अजीत को खेती–किसानी की बागडोर सौंप कर उसका ब्याह कर दे, फिर सुजीत को बड़े कॉलेज तक पढ़ाना है। एक यही

साध है उसकी कि किसी भी तरह सुजीत को पढ़ा लिखा दे ताकि वह कहीं अच्छी नौकरी पर लग जाये। डॉक्टर, इंजीनियर तक न उसकी सोच पहुँची और न पहुँच सकती थी, यही उसका सपना था। फिर तन्द्रा भंग हुई पर इस बार उसने अपने आप को सबसे आगे खड़ा पाया। जल्दी–जल्दी बीज ख़रीदे और बाहर आ कर साइकिल में उसे पीछे रख बाँध–बूँध कर इत्मिनान कर के कि गाँठ अब खुलेगी नहीं, एक–एक बीज बहुत क़ीमती था, हर बीज में उसके सपने थे, जिन्हें अभी आकार लेना था। जब मुख्य सड़क पर पहुँचा तो पता चला कि दोपहर वाली बस तो जा चुकी है, अगली बस दो घंटे बाद की है। पहले रामसजीवन ने इन्तज़ार करने का मन बनाया फिर सोचा दो घंटे में तो वह धीरे–धीरे गाँव पहुँच ही जायेगा, बस के टिकट का पैसा भी बचेगा। पैसे बचने वाली बात ने उसे उत्साहित किया और वह साइकिल उठा कर चल दिया। देखने वालों को यही लगता था कि एक देहाती आदमी एक बोरी साइकिल में बाँधे जा रहा है। पर अगर दूसरी तरह से कोई देख पाता तो देखता कि वह देहाती आदमी जिसका नाम रामसजीवन था, इस समय एक उत्साह से भरा हुआ था और उसका उत्साह उसकी ताक़त बन कर साइकिल के दोनों पैडलों को बार–बार धकेल रहा था तो देख पाता कि जिसे वह, एक बोरी समझ रहा है वह रामसजीवन के सपनों को सच करने का दम रखने वाले या कम से कम ऐसा आभास देने वाले बीजों से भरी हुई थी। रामसजीवन की तरह ही हर बीज के ऊपर बड़ी ज़िम्मेदारी थी, दोनों की ताक़त सीमित थी, दोनों के पास संसाधन कम थे लेकिन दोनों उत्साह में भरे थे। रामसजीवन का उत्साह दिख रहा था और बीजों को अभी रोपे जाने का इन्तज़ार था।

धड़ाम!! एक ज़ोर की आवाज़ हुई और इससे पहले कि रामसजीवन कुछ समझ पाता पीछे से आ रही एक तेज़ रफ़्तार कार का अगला टायर फटा और वह कई पलटी खाती हुई रामसजीवन की तरफ बढ़ी, और रामसजीवन जब तक कुछ समझ पाता या सोच पाता उससे पहले ही उसकी तेज़ आवाज़ ने उसकी चीख़ को अपने शोर में दबा दिया, फिर सब

कुछ शान्त। साइकिल कई टुकड़ों में बँटी वहीं कहीं पड़ी थी, रामसजीवन ख़ून से लथपथ एकटक बिखरे हुये अनाज के बीजों की तरफ़ देख रहा था। कोई आवाज़ नहीं, कोई शोर नहीं, बस ख़ामोश निगाहें, ऊपर–नीचे बिना लय के चलती साँसें और बिखरे हुये अनाज के दाने। हाँ! जमा हुई भीड़ को बस यही दिखा, पर बीज कहाँ थे वह रामसजीवन की बन्द होती आँखें देख रही थीं कि थोड़ी ही दूर पर एक लाल चुनरी पड़ी है, अरे! ये तो उसकी बेटी की शादी के लिये सहेजी गयी थी। वहीं बगल में एक हाथ घड़ी, सुनहरे रंग की।

—o—

मुझसे मिलने आना

इक़बाल साहब अपने पूरे परिवार को गाँव के पुश्तैनी मकान से शहर ले कर आ गये, परिवार में उनकी बेग़म साहिबा, बड़ी बेटी आर्शिया, उससे छोटी आसिमा और सबसे छोटा बेटा क़ासिम। परिवार को शहर लाने के कई कारण थे, एक तो उन बच्चों की तालीम अच्छे से हो दूसरे उनका बेटा क़ासिम जो कि गांव के आवारा लड़कों की संगत में दिन–ब–दिन हाथों से निकलता जा रहा था, यहाँ उनकी सरपरस्ती में और अच्छे महौल में उसके सुधरने की पूरी गुंजाइश थी।

हालांकि गाँव की आबोहवा की बात ही और होती है फिर पुश्तैनी घर भी ख़ूब बड़ा हवादार था। लेकिन शहर तो शहर ही होता है, भले ही दड़बे जैसा घर हो, हालाँकि हम जिस घर में रहने आये थे वह इतना भी छोटा नहीं था।

जल्दी ही इक़बाल साहब ने पास के कॉलेज में बड़ी बेटी आर्शिया का दाख़िला करा दिया और आसिमा और क़ासिम दोनों का एक ही स्कूल में नाम लिखा दिया। इक़बाल साहब हमेशा से बड़े आज़ाद ख़्याल थे, उनका मानना था कि बच्चों को थोड़ी आज़ादी देना चाहिए, ताकि वो ज़िन्दगी के फ़ैसले लेने के लायक़ बन सकें। कोई रोक–टोक भी नहीं थी और बच्चे भी हमेशा ख़्याल रखते कि उनसे कोई बेज़ा हरक़त न होने पाये।

धीरे–धीरे आस–पास के महौल से परिचित होने लगी थी आर्शिया

और आस–पास के लोग उससे। कॉलेज चूँकि लड़कियों का था तो वहाँ कोई दिक़्क़त नहीं होती थी बस सारी दिक़्क़त रास्ते की थी। घर से निकल कर गली पार करते ही अगले चौक पर जहाँ से कॉलेज की बस पकड़नी होती थी वहाँ हमेशा आवारा लड़कों का जमावाड़ा रहता था, एक दो बार आर्शिया की नज़र उधर उठी, मगर उधर से आती आवाज़ों ने दुबारा इजाज़त नहीं दी कि वह कभी उधर देखे। एक दिन कॉलेज से वापसी के समय कुछ देर हो गई और आर्शिया की बस छूट गई, चूँकि उसने बस का साल भर का पास बनवा रखा था इसलिए पास में ज़्यादा पैसे रखने की ज़रूरत नहीं होती थी। मगर आज तो वह बुरी फँसी थी, पास में पैसे भी नहीं थे और शाम भी घिर आई थी। वह जल्दी–जल्दी क़दम बढ़ा कर पैदल ही चल दी, खड़े रहने से भी क्या होता। अचानक लगा कि कोई उसके पास ही चल रहा है, देखा तो एक लड़का लगभग उसकी ही उम्र का अपनी मोटरसाइकिल पर धीरे–धीरे उसके बगल में चल रहा है या ऐसी कोशिश कर रहा था। जैसे ही आर्शिया ने उसकी तरफ़ रूख़ किया तो बिना हड़बड़ाये वह बोला कि,

''क्या मैं आपको आपके घर के चौराहे के पास छोड़ दूँ?''

आर्शिया अवाक्, बस देखती रही कुछ कह नहीं पाई। वह तुरन्त बोला कि, ''आप वहीं से रोज़ बस पकड़ती हैं, इसलिए बोला और आज आप शायद लेट हो गई हैं।''

आर्शिया ने तुरन्त नज़रें घुमाईं और तेज़ क़दमों से अपना रास्ता तय करने की कोशिश करने लगी। वह फिर पीछे आ कर बोला,

''अगर आपको मुझसे दिक़्क़त है तो आप ऑटो कर के चली जाइये। इस समय यहाँ पर अकेला होना ठीक नहीं है।''

पता नहीं कैसे आर्शिया के मुँह से निकल गया कि,''मेरे पास ऑटो के पैसे नहीं हैं।''

इससे पहले कि वह कुछ और कह पाती उसने तुरन्त अपनी बाइक

खड़ी कर दी और आर्शिया के बगल में खड़ा हो कर सड़क पर नज़रे दौड़ाने लगा। जल्द ही एक ऑटो को उसने रोका और पता बता कर पैसे भी दे दिये। फिर आर्शिया से बोला कि,

''अब आप जा सकती हैं।''

आर्शिया पता नहीं किस कैफ़ियत में थी, डरी हुई थी, या देर हो रही थी पर वह ऑटो में बैठ गई। और बराबर ऑटो से देखती रही कि कहीं वह उसका पीछा तो नही कर रहा। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उसके बाद कई दिन बीत गये वह आर्शिया को नज़र नहीं आया, आर्शिया के मन से उसका डर भी निकल गया था। बात आई–गई हो गई। फिर एक रोज़ कॉलेज जाते समय वह आर्शिया को बस स्टैंड पर दिखा उसके अगल–बगल कुछ और भी आवारा टाइप के लड़के खड़े थे कम से कम देखने में तो यही लग रहा था। आर्शिया उसकी तरफ़ चुपके से देख लेती थी कि अगर वह भी उसे देख ले तो उसके पैसे वापस कर दे। लेकिन वह तो अपने बातों में मशगूल रहा। शाम को कॉलेज गेट के आगे जहाँ से बस मिलती थी वह आर्शिया को खड़ा हुआ दिखा। आर्शिया कुछ बोले बिना ही चुपचाप जा कर स्टैण्ड पर खड़ी हो गई। इससे पहले कि वह कुछ सोच पाती वह ख़ुद उसके सामने आकर खड़ा हो गया और बड़े सपाट लहजे में बोला कि, ''आज आप मुझसे कुछ कहना चाहती थीं मगर वह जगह ठीक नहीं थी इसलिये मैंने आपसे रुख़ नहीं मिलाया। कहिये आप क्या कहना चाहती थीं?''

आर्शिया ने कहा, ''कुछ नहीं बस आपके उस दिन के एहसान के लिये शुक्रिया अदा करना चाहती थी और आपके पैसे लौटाना चाहती थी।''

वह बोला, ''ठीक है अगर आप पैसे लौटाना चाहती है तो दे दीजिये।''

आर्शिया हड़बड़ा गई क्यों कि उसके पास पैसे तो थे पर उतने नहीं जितने उसे देने थे। आर्शिया के चेहरे को देख कर उसने कहा कि, ''आप फिर कभी दे दीजियेगा, मुझे कोई जल्दी नहीं है।'' इतना कह कर वह

पलट कर चल दिया। आर्शिया ने तुरन्त आवाज़ लगाई, ''सुनिये! अरे एक मिनट सुनिये तो ज़रा।'' वह हैरत से देखते हुये पलटा। आर्शिया ने पास आ कर कहा– ''अगर बाद में भी देना हो तो कम से कम आप के बारे में पूछने के लिये आपका नाम तो पता होना चाहिये।'' वह मुस्कुराते हुये बोला – ''मेरा नाम हिबाह है''। आर्शिया के मुँह से निकला–''बड़ा अच्छा नाम है मगर कुछ अलग सा है।'' वह मुस्कुराया, ''क्या आपका नाम जान सकता हूँ।''

''आर्शिया'' उसने कहा।

''बहुत खूबसूरत नाम है और सच कहूँ तो अलग सा है, लेकिन मेरे नाम की तरह अजीब नहीं, है न ?'' शायद उसने आर्शिया के मन की बात उसके ही सामने कह दी। तभी आर्शिया की बस आ गई और वह जल्दी –जल्दी अपनी बस की तरफ भागी। फिर दो चार दिन ऐसे ही बीत गये हिबाह उसे नज़र नहीं आया पर अब उसको देने के पैसे हमेशा रखे रहती कि फिर से शर्मिन्दा न होना पड़े। फिर एक दिन हिबाह उसे बस स्टैंण्ड पर मिला और इससे पहले कि आर्शिया उसे आवाज़ देती वह ख़ुद ही उसके पास आ गया और बोला, ''लाइये मेरे पैसे, मुझे लगता है जब तक आप मेरे पैसे नहीं दे देंगी आप परेशान ही रहेंगी, है न''? अपनी चोरी पकड़ती देख वह ठगी सी रह गई, तुरन्त उसके पैसे दिये और बस में चढ़ कर कॉलेज आ गई। एक दिन कॉलेज से घर पहुँची तो देखा हिबाह उसके घर पर बैठा था और अब्बू से बातें कर रहा था। अम्मी ने बताया कि दफ़्तर से वापिस आते समय अब्बू की स्कूटर कहीं टकरा गई। पैर में मोच भी आ गई थी तो यह लड़का उन्हें घर तक ले आया। जाते समय अम्मी अब्बू के साथ वह भी बाहर तक आई। शुक्रिया कहने पर डर भी था कि कहीं वह उनकी जान–पहचान की बात न बोल दे मगर हिबाह ने अजनबियों की तरह उसे सलाम किया और चला गया। आर्शिया को लगा, नेक सीरत के साथ–साथ ज़हीन भी हैं साहब। वह उम्र के उस दौर में थी जहाँ दिमाग़ से नहीं दिल से सोचा जाता है और जब दिल सोचता है

तो कितनी ही बंदिशें टूट जाती हैं, ख़्यालों के समन्दर अपनी हर लहर के साथ न जाने क्या कुछ ले आते हैं, और न जाने कितनी चट्टानों को धता बता कर उन्हें पार कर जाते हैं। और अगर कोई शय पसन्द आ जाये तो दिल आमादा हो जाता है उसे पाने के लिये। बहुत बचने के बाद भी शायद वह ख़ुद को बचा नही पाई थी और दिल ने ज़रा सी नरमी क्या पाई उससे बेहयाई से बोल उठा– ''आर्शिया, यही है वो शख़्स जिसे तेरी ज़िन्दगी में आना चाहिये।'' हिबाह, जिसका मतलब होता है 'ऊपर वाले का दिया हुआ उपहार', उसे लगा शायद ऊपर वाले ने यह उपहार उसके लिये ही भेजा है।

धीरे–धीरे आर्शिया का उससे मिलना–जुलना बढ़ने लगा, सबसे अच्छी बात उसमें यह थी कि वह आँखों को बेहतरीन तरीक़े से पढ़ना जानता था। जब भी आर्शिया को उससे मिलना होता था, वह बस स्टाप पर जा कर एक बार उसकी तरफ़ अपनी नज़रें घुमा कर चली जाती और वह शाम को कॉलेज की गेट पर हाज़िर। यह अलग बात थी कि अभी तक उन दोनों ने ही प्यार का इज़हार नहीं किया था। हाँ, इतना जरूर हुआ था कि कभी–कभी अपने एक्स्ट्रा पीरियड का बहाना बना कर उसके साथ घूमने निकल जाती थी। पर उसने कभी कोई बेज़ा हरक़त करने की कोशिश नहीं करी, इसी वजह से आर्शिया बिना किसी डर के उसके साथ चली जाती थी। इतने दिनों में आर्शिया ने हिबाह के बारे में जो जाना उसका लब्बोलुआब यह कि जब उसकी अम्मी का इन्तक़ाल हुआ तब वह महज़ आठ बरस का था। उस उम्र तक माँ के साथ जो उसकी यादें थीं आज भी उसने सँजो रखी थीं, जैसे कोई अपनी बेशक़ीमती चीज़ों को सम्हालता है क्यों कि उसकी क़िस्मत में जो प्यार लिखा था वह बस वहीं तक था। अम्मी के इन्तक़ाल के बाद अब्बू ने ज़्यादा इन्तज़ार नहीं किया और दूसरा निकाह कर लिया। हालांकि अब्बू उसे चाहते थे पर नई बीवी शायद उनकी कमज़ोरी थी जिसे वह कभी नाराज़ नहीं कर सकते थे। लिहाज़ा हिबाह को बहुत कुछ बर्दाश्त करना पड़ा क्यों कि नई अम्मी उसे

एक पल को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। पता नहीं यह हिबाह की समझदारी थी या उसका डर। जो भी था उसने उसको शान्त रखा, शायद इसी वजह से वह ख़ुद को वहाँ तक ला पाया जहाँ से वह ख़ुद अपनी ज़िन्दगी के फ़ैसले ले सकता था। धीरे–धीरे घर पर पिता की हैसियत कम होती गई और नई अम्मी की हैसियत बढ़ती गई, उस पर तुर्रा यह कि उनके ख़ुद के दो बेटे भी इस बीच हो चुके थे तो हिबाह का वजूद अब कुछ भी मायने नहीं रखता था। किस दिन, किस हालात में हिबाह ने अपना घर छोड़ा न तो यह घर वालों को याद था और न हिबाह ही समझ पाया। छोटे–मोटे काम, ट्यूशन करके भी उसने ख़ुद को बचाये रखा और अपनी पढ़ाई भी जारी रखी। धीरे–धीरे उसने अपना ग्रेजुएशन पूरा कर लिया। और आज एक अलग कमरा ले कर रहता था। दुनिया में किसी चीज़ की उसे तलाश थी तो वह था प्यार, बस प्यार।

अब तक दोनों एक रिश्ते में जिसे मुहब्बत कहा जाता है, बँध चुके थे। मुहब्बत, यानी मुकम्मल मुहब्बत। हाँ, आज कल के जोड़ों की तरह उनकी मुहब्बत ने बिस्तर पर दम नहीं तोड़ा था, उन्हें तो बस साथ रहना, एक दूसरे को सुनना, अपनी दिली तमन्नाओं को कहना ही अच्छा लगता था और कभी बातों में गुम हो कर मुहब्बत अपनी हदों को पार भी कर जाये तो बस एक दूसरे को बाँहों में भर कर चुपचाप बैठे रहना। इसके आगे दोनों ने कभी भी मुहब्बत तलाशने की कोशिश नहीं की। शायद यह भी एक बड़ी वजह थी जो आर्शिया हिबाह की मुहब्बत में डूबती चली जा रही थी, गहरे, और गहरे बिना किसी परवाह के।

दोनों अपनी मुहब्बत की दुनिया में इतना डूबे थे कि उन्हें ख़बर ही न थी कि दुनिया के रस्मों–रिवाज़ इतने आसान नहीं हैं जो दो प्यार करने वालों को इतनी आज़ादी दें या शायद इस बात को दोनों नज़रअन्दाज़ कर जाते थे। आर्शिया को अपने अब्बू की आज़ाद ख़्याली पर पूरा भरोसा था पर हिबाह किसी हद तक इन चीज़ों को समझता था, समझता भी क्यों नहीं एक यही चीज़ थी जिसके लिये वह उम्र भर तरसता रहा था। एक

बार आर्शिया ने उससे कहा कि, ''हिबाह कुछ भी हो जाये तुम मेरा साथ तो नहीं छोड़ोगे।'' हिबाह उसे देखता रहा, फिर बहुत संजीदगी से बोला–''कभी नहीं आर्शिया, कभी नहीं छोडूँगा तुम्हें, तुम्हारे लिये केवल मैं हूँ लेकिन मेरे लिये तुम पूरी कायनात हो, ज़िन्दगी के तमाम रिश्तों के मायने बस तुमसे ही हैं। लेकिन अगर तुम ही कभी मुझसे कहोगी कि मैं तुम्हें छोड़ दूँ तो मैं तुम्हें ज़बरदस्ती अपने पास नहीं रखूँगा, यह भी वादा करता हूँ तुमसे।''

आर्शिया बोली– ''ऐसा कभी नहीं होगा।''

पर वक़्त को किसने देखा है, कब करवट ले ले, कोई नहीं जानता। शायद आर्शिया और हिबाह की मुहब्बत को भी ज़माने की नज़र लग गई और उनकी छुपी हुई मुहब्बत कब दुनिया पर ज़ाहिर हो गई वो जान भी नहीं पाये। इक़बाल साहब को जब इस बात की ख़बर लगी तो उनकी पेशानी पर बल पड़ गये। उस दिन जब आर्शिया घर वापस आयी तो उसे ख़बर ही नहीं थी कि क्या हुआ है, और जो हुआ है उसका क्या अंजाम होगा।

इक़बाल साहब की चढ़ी हुई त्योरियाँ और घर के भारी महौल को देख आर्शिया ने यह तो भाँप लिया कि कुछ तो हुआ है मगर क्या?, यह अभी जानना बाक़ी था। जब इक़बाल साहब ने उसे बुलवाया और बेहद ठण्डे लहजे में पूछा, ''क्या तुम हिबाह से मिलती–जुलती हो?'' चुप! आँखों में डर और ज़ुबां ख़ामोश। इक़बाल साहब ने अबकी बार लगभग चीख़ते हुये पूछा, – ''क्या तुम उस लड़के से मिलती हो?''

'हाँ', शायद डर की वजह से आर्शिया की ज़ुबान फिसल गयी, और इक़बाल साहब ने इसे बदतमीज़ी मान लिया। फिर भी ज़हीन आदमी थे, जानते थे कि ज़बरदस्ती शायद बातों को और बिगाड़ देगी। उन्होंने आर्शिया को ख़ानदान की इज़्ज़त का, छोटी बहन की शादी का, और अपनी उस सोच का हवाला दिया जिसके कारण उन्होंने उसे छूट दे रखी थी। इन सब के बाद यह धमकी भी दी कि अगर अब भी आर्शिया ने ज़िद

न छोड़ी तो ख़ुद भी आत्महत्या कर लेंगे और उनके बाद परिवार के किसी शख़्स को ज़िल्लत की ज़िन्दगी न जीनी पड़े, इसलिये पूरे परिवार को भी ज़हर दे देंगे। फिर आर्शिया इन सबकी लाशों पर अपना आशियाना बनाना चाहे तो बना लें।

न आर्शिया कमज़ोर थी, न उसका प्यार और न ही वह बेवफ़ा थी, मगर अपने परिवार से भी उसे बेइन्तहा मुहब्बत थी और अपनी ख़ुशी के लिये वह इतने रिश्तों को ख़त्म होते नहीं देख सकती थी। आर्शिया ने अब्बू से वादा किया कि वह भूल जायेगी हिबाह को और अपनी मुहब्बत को।

पर इक़बाल साहब ने दुनिया देखी थी, उन्हें पता था कि अगर समय रहते इस समस्या का मुकम्मल इलाज न किया गया तो ये समस्या कितनी बड़ी हो जायेगी, कोई नहीं जानता। उन्होंने आनन–फ़ानन में आर्शिया की शादी अपने ही ख़ानदान में तय कर दी और निकाह का दिन भी मुक़र्रर कर दिया। आर्शिया ने भी कोई सवाल नहीं किया। वह इतना टूट गई थी कि उसमें अब लड़ने का हौसला भी नहीं रहा था।

हाँ, अब आर्शिया को डर था तो बस इतना कि कहीं हिबाह उसकी शादी में कोई हंगामा न खड़ा कर दे, कहीं वह कोई ऐसी हरक़त न कर दे जिससे उसकी और उसके परिवार की इज़्ज़त नीलाम हो जाये। उसने आख़िरी बार हिबाह से मिलने का फ़ैसला किया, उसे समझ नहीं आ रहा था कि हिबाह से क्या कहेगी, क्या जवाब देगी उसे, अगर वह पूछेगा कि मैं इतने दिनों से उससे क्यों नहीं मिली। वह क्या करेगा यह सब सुनकर मगर फिर भी कहना तो था।

जब उसने हमेशा की तरह हिबाह को मिलने का पैग़ाम दिया तो हिबाह उससे मिलने आया और साथ में लाया वो तमाम ख़त, जो कभी आर्शिया ने उसे दिये थे। इससे पहले कि आर्शिया कुछ कहती हिबाह ने वो सारी चीज़ें आर्शिया के हाथ में रख दीं। हाँ, उसकी आँखों में सूनापन ज़रूर था, वही सूनापन जो उसकी आँखों में आर्शिया ने पहली बार देखा था। आर्शिया ख़ामोश थी, उसकी आँखें झुकी हुई थीं, ख़ामोशी हिबाह ने

ही तोड़ी।

''आर्शिया, इतने दिनों की मुहब्बत के बाद भी क्या तुम्हें मुझ पर बिल्कुल भी भरोसा नहीं था, जो तुम मुझसे इतनी छोटी–सी बात नहीं कर पाईं, अगर इक़बाल साहब ने मुझसे मिल कर तुम्हारी ज़िन्दगी से दूर चले जाने की हिदायत न दी होती तो मैं यह जान भी न पाता कि तुमने अकेले क्या कुछ झेला है। अब चूँकि तुम किसी और की ज़िन्दगी बनने जा रही हो, इन ख़तों का जिनके हर लफ़्ज़ में तुम हो, मेरे पास क्या काम। मैं हमेशा तुम्हें याद रखूँगा। तुम, मेरी पहली और आख़िरी मुहब्बत हो। लेकिन तुम जाओ, इससे पहले तुमसे भी एक वादा चाहता हूँ।''

''कैसा वादा?'' आर्शिया ने पूछा।

''अगर कभी मेरा ख़त मिले तो मुझसे मिलने आओगी, बस इतना वादा करो।''

आर्शिया नहीं समझ पा रही थी कि हिबाह की इस बात का क्या जवाब दे। कभी–कभी इन्सान का अच्छा होना भी उसके लिये घातक हो जाता है। हिबाह की इतनी साफ़गोई, आर्शिया को परेशान कर गई थी, वह अन्दाज़ा लगा रही थी कहीं हिबाह उसकी भावनाओं से खेल तो नहीं रहा है। उसे पशोपेश में देख कर, हिबाह ने हमेशा की तरह उसे यह कह कर चौंका दिया कि, ''तुम नहीं चाहतीं तो ठीक है, कोई वादा मत करो, लेकिन मैं ख़त ज़रूर भेजूँगा और इन्तज़ार भी करूँगा तुम्हारा।"

आर्शिया बिना कुछ कहे चुपचाप चली आई। आर्शिया का निकाह हो गया। कुछ ही सालों में उसके दो बच्चे भी हो गये। लेकिन एक डर उसे हमेशा रहता कि कहीं हिबाह का कोई ख़त न आ जाये, अगर वह किसी और के हाथ लग गया तो वह क्या जवाब देगी। मुहब्बत भी कैसी होती है कभी जिसे देखने के लिये बेचैन थी आज उसके ख़त के आ जाने का डर सता रहा है।

क़ासिम की शादी का कार्ड आया तो अपने बच्चों और शौहर के साथ आर्शिया अपने मायके आई। पूरे सात साल बाद, वही शहर, वही गलियाँ।

लेकिन बहुत कुछ बदल गया था इन सात सालों में। कितने ही नये लोग, कितनी रौनक़।

आर्शिया घर आ कर ख़ुश थी। शाम को अकेले ही मार्केट के लिये निकल गई। दुल्हन के लिये तोहफ़ा ख़रीदने, हमेशा की तरह चौराहे पर पहुँची तो अनायास ही उसकी नज़रें उधर उठ गईं जिधर कभी वह जानबूझ कर देख लिया करती थी, उसे भी नहीं पता था उसकी नज़रें क्या खोज रही हैं। पर जो भी था उसे न पा कर नज़र दूर जा कर लौट आई। वह वहाँ से ऑटो पकड़ कर मार्केट आ गई, रास्ते में भी कुछ अनमनी सी रही फिर मार्केट पहुँच कर व्यस्त हो गई। दुल्हन के लिये तोहफ़ा ख़रीद कर वापस उसी जगह पहुँची। अभी ऑटो से उतर कर, उसका किराया दे कर फ़ारिग़ हुई ही थी कि एक लड़का आ कर खड़ा हो गया। यह क्या हिबाह? अरे नहीं नही, यह तो कोई और था, पर कौन? आर्शिया की सवालिया निगाह उस पर थी और लब ख़ामोश, वह लड़का ही बोला, ''आप आर्शिया आपा हैं न''? आर्शिया समझ न पाने के अन्दाज़ में बस सर हिला कर रह गई। वह बोला, ''मैं जानता था कि आप ज़रूर आयेंगी, जब क़ासिम की शादी की ख़बर सुनी तब ही समझ में आ गया था। अच्छा हुआ, आप आ गईं। आपकी एक अमानत आप को सौंपनी थी''। इतना कह कर उसने एक लिफ़ाफ़ा उसकी तरफ बढ़ा दिया। लिफ़ाफ़ा देख कर आर्शिया को हिबाह की याद आ गई, वह भी हमेशा सफ़ेद लिफ़ाफ़े में ही ख़त देता था। अगर वह कुछ पूछती भी तो कह देता मेरी ज़िन्दगी तो बेरंग है जब तुम मेरी शरीक़े हयात बन जाओगी तो ख़ुद ही रंग भर देना। लाल, गुलाबी, हरे, पीले हर शोख़ रंग जो तुम चाहना। पर वक़्त ने दोनों को ही ये हक़ नहीं दिया। लड़का फिर बोला– ''यह ख़त मुझे हिबाह भाई ने दिया था'', तो जैसे यादों के समन्दर से बाहर आ गई। सर से पाँव तक भीगी हुई, यादों से। लब खुले आर्शिया के, 'हिबाह कहाँ है?'। वह बोला, ''हिबाह भाई को गुज़रे तो चार साल हो गये, आप के निकाह के बाद पता नही क्या हुआ उन्हें, उन्होंने यहाँ चौकड़ी पर भी आना छोड़ दिया था, फिर

बिस्तर से ऐसे लगे कि कभी उठ ही नहीं पाए। यह ख़त मुझे देते हुये हिबाह भाई ने बोला था कि जब कभी आप यहाँ आयें और अगर आप की निगाहें चौकड़ी पर कुछ ढूँढें, तभी मैं यह ख़त आपको दूँ वरना नहीं।'' आर्शिया सन्न रह गई, तो जिसके ख़त से डर कर जी रही थी वह तो कब का चला गया। या ख़ुदा अगर आज भी मेरी बेचैन निगाहें चूक जातीं तो मैं इस आख़िरी ख़त से महरूम रह जाती। वह लड़का क्या–क्या बोलता रहा, आर्शिया सुन ही नहीं पाई। ''हिबाह नहीं रहा'', ये शब्द उसके ज़ेहन में बम की तरह बार–बार फट रहे थे। वह उस सफ़ेद लिफ़ाफ़े को थामे घर लौट आई, थकी–थकी सी। सबने समझा कि ये सफ़र की थकान है लेकिन इस थकान की असलियत केवल आर्शिया ही जानती थी। रात गहराई और जब सब सो गये तब आर्शिया ने ख़त को लिफ़ाफ़े से आज़ाद किया और उसकी हर इबारत पर अपनी निगाहें टिकाने की कोशिश करने लगी।

प्यारी आर्शिया,

जब, तुम ये ख़त पढ़ रही होगी, मैं इस दुनिया से रूख़सत हो चुका होऊँगा। मुझे ख़ुशी है कि मैंने तुमसे जो वादा किया था उसे निभा पाया। तुम मेरी पहली मुहब्बत थी और आज जब मैं इस दुनिया से रूख़सत हो रहा हूँ, मेरे दिल में बस तुम और तुम्हारी मुहब्बत है। एक वादा तुमसे भी चाहा था मैंने, पर तुम्हारी परेशानी भी समझता हूँ इसलिये ज़ोर नहीं डाला। फिर भी इसे मेरी आख़िरी ख़्वाहिश समझ कर तुम पूरा कर सको तो मेरी रूह को अपना मुकाम मिल जायेगा, मेरी अधूरी मुहब्बत मुकम्मल हो जायेगी। बस इतना करना कि ''मुझसे मिलने आना''।

आख़िरी साँस तक

सिर्फ़ तुम्हारा

हिबाह

अगले दिन जब सभी निकाह की तैयारी में व्यस्त थे आर्शिया चुपके

से निकल कर हिबाह से मिलने जा पहुँची। हाँ, उसकी क़ब्र पर, पूरी रात जाग कर लाल, गुलाबी, हरे, पीले काग़ज़ों पर उसने तमाम मुहब्बत भरे अल्फ़ाज़ सजाये और वो सारे ख़त हिबाह की क़ब्र के ऊपर रख दिये और रख दिया क़ब्र पर एक बोसा, जैसे हिबाह को ही चूम रही हो, न आँखों में आँसू, न चेहरे पर दर्द। बस, बेपनाह मुहब्बत, और सर उठाया, तो देखा सामने हिबाह खड़ा था, मुस्कुराता हुआ, और वो सारे ख़त, रंग बिरंगी तितलियाँ बन कर हिबाह के चारों तरफ़ मँडरा रहे थे। अधूरी कहानी पूरी हो गई थी, मुहब्बत मुकम्मल हो गई थी। उसने कहा था मुझसे मिलने आना और वह मिलने आई थी।

—o—

दीदी मत कहो

सम्मान, बड़ा शब्द है न, पर यही सम्मान आपकी पीड़ा का कारण बन जाये, आपको सम्मानजनक शब्द चुभने लगें और आपका मन विद्रोह कर उठे कि बस बहुत हुआ... अजीब है न ये सुनना। हाँ, मुझे भी कभी अजीब ही लगता था पर अब जानता हूँ उस मनःस्थिति को, जिसमें सम्मान, दर्द बन जाता है, दंश बन जाता है।

कुछ भी तो उम्र नहीं थी अपराजिता की जब पिता की असमय मृत्यु हो गई। विरासत के नाम पर छोड़ कर गये पत्नी, जो उनकी मृत्यु से टूट गई थी और तीन बच्चे जिनमें सबसे बड़ी आपराजिता बारह साल की, उससे छोटा राहुल नौ साल का और सबसे छोटी कल्याणी छह साल की, और एक मकान।

किसी ने उसको रोने का वक़्त भी नहीं दिया, जो दो–चार रिश्तेदार और पड़ोसी इकट्ठा हुये थे वो ना जाने किस सोच में उसकी गिरती–पड़ती माँ को देख कर उससे बोले, ''अरे अब तू ही सम्हाल अपनी माँ को, तुझे ही सम्हालना होगा, पता नहीं कोई कैसे, कुछ ही पलों में सालों का सफ़र तय कर लेता है। पर उस दिन देखा अपराजिता को सालों का सफर तय कर उम्र से बड़ा होते हुये, बहुत बड़ा। बेसुध माँ के साथ–साथ अपने भाई–बहन को भी सम्हालती अपराजिता ने कब और कौन–कौन सी ज़िम्मेदारियाँ खुद उठा ली थीं शायद उसे भी याद नहीं। आगे क्या होगा, कैसे होगा, सब वह यन्त्रवत सी करती चली गई और बाक़ी सब, बस उसे देखते रहे। माँ की ज़िम्मेदारी बस रसोई तक ही सीमित रह गई और

शायद अधिकार भी। भाई–बहन भी जो कल तक उसके साथ दीदी–दीदी कह कर खेलते रहते थे उसके व्यक्तित्व से भय खाने लगे, जैसे कभी पिता से भय होता था। अपराजिता ने घर का कुछ भाग किराये पर उठा दिया जिससे घर की ज़रूरतें पूरी होने लगीं और ख़ुद वो इधर–उधर छोटा–मोटा काम करने लगी। ताकि भाई–बहन की पढ़ाई न रुकने पाये। ख़ुद से छोटी क्लास के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने लगी। शुरुआत में तो बच्चों के माँ–बाप को लगता कि यह तो ख़ुद इतनी छोटी है क्या आता होगा इसे, क्या पढ़ायेगी बच्चों को? पर जिस किसी ने भी उसे अवसर दिया उसे त'अज्जुब हुआ उसकी क़ाबिलियत पर।

कुछ ही लोग अपने नाम को सार्थकता दे पाते हैं, ना जाने माँ–बाप ने किस सोच में उसका नाम अपराजिता रखा था। कभी भी परिस्थितियों से, ना ख़ुद से, उसने हार नहीं मानी। और अगर हार हुई तो उसे चुनौती मान कर उससे लड़ गई। कुछ ही समय में उसने घर में घर के मुखिया का स्थान ले लिया था। इन सब के बाद भी अपराजिता ने अपनी पढ़ाई को भी किसी न किसी तरह जारी रखा था, प्राइवेट इम्तिहान दे कर उसने अपना ग्रेजुएशन पूरा किया, लेकिन भाई–बहन की पढ़ाई पर पूरा ध्यान रखा।

ज़िन्दगी एक लय में चलने लगी थी, अब किसी को पिता की कमी का आभास भी न होने पाता था और अपराजिता, वह उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच चुकी थी जहाँ पर सपने रंगीन होने लगते हैं, कल्पनायें जन्म लेने लगती हैं, मौसम महकने लगता है और मन बहकने लगता है। पर शायद उसे इन सबकी फ़ुर्सत ही नहीं थी। घर में जब शाम को आती तो सब अपने में सिमट जाते, भाई–बहन से अगर कुछ पूछती भी तो बस पढ़ाई के बारे में और माँ, बस उससे खाने के लिये पूछती, वह हाँ कहती तो उसके कमरे में ही ख़ाना पहुँच जाता था। नहीं तो कोई उससे हुज्जत नहीं करता कि कहीं गुस्से में वह चिल्ला न पड़े। हालाँकि ऐसा कभी हुआ नहीं पर पता नहीं क्यों सब उसके सामने भय से सहमे रहते।

कभी–कभी बगल के कमरे से भाई–बहन की चुहलबाज़ी, उनकी दबी हुई हँसी और कभी–कभी उन सब में शामिल उसकी माँ। अपराजिता का मन होता कि वह भी इन सब में शामिल हो जाये पर पता नहीं क्या था जो उसे रोक देता था, क़दम ठिठक जाते थे। पर मन, उसका क्या? आख़िर वह भी इन्सान थी, उसकी भी भावनायें थी, जज़्बात थे, वह भी चहकना चाहती थी पर पता नहीं कैसा कवच था उसके चारो तरफ़ कि वह चाह कर भी तोड़ नहीं पाती थी और बाहर का कोई भी उसकी इस छटपटाहट को देख नहीं पाता था। घर के लोगों को और बाहरी लोगों को वह कवच से ज़्यादा कठोर लगती थी, इसलिये बाहर से भी कोई उस कवच को तोड़ना नहीं चाहता था। उस कवच के भीतर की अपनी दुनिया में क़ैद वह रोज़ आगे बढ़ती रही।

ज़िम्मेदारियों ने उसे नहीं सोचने दिया और घर वालों को शायद ज़रूरत ने। वह धीरे–धीरे उम्र के 28 बसन्त पार कर गई। उसकी भी ज़िन्दगी है, उसके भी सपने हैं, चाह कर भी किसी से कुछ नहीं कह पाई और शायद उसके व्यक्तित्व से दबी उसकी माँ उससे इस बारे में कुछ बोल नहीं पाई। इस बीच ख़ुद तो बी०एड० कर शहर के ही एक प्राइवेट स्कूल में परमानेंट टीचर हो गई और राहुल की सरकारी बैंक में नौकरी लग गई, तो राहुल को अपने शहर से दूर दूसरे शहर जाना पड़ा। फिर माँ ने उससे एक दिन शादी की बात की, लेकिन कल्याणी की शादी की बात। अपराजिता अपनी माँ का मुँह देखती रही बस उसके ख़ुद के चेहरे में क्या था वह भी नहीं जान पा रही थी और न जान सकी थी अपराजिता की माँ कि भावविहीन चेहरे पर क्या था, छोटी बहन की शादी की चिन्ता या कुछ और। शायद वर्षों का उसका कठोर दिखने का अभ्यास उसके चेहरे पर जम गया था। तभी तो बाक़ी की भावनायें कभी उसके चेहरे पर आड़ी–तिरछी लकीरें नहीं बना पाती थीं।

उसने माँ को सहमति दे दी, तो जल्दी ही कल्याणी का रिश्ता तय हो गया, शायद अपराजिता की माँ ने या शायद कल्याणी ने या शायद दोनों

ने लड़के वालों के सामने अपराजिता का व्यक्तित्व रख दिया था सो लड़के के माता–पिता भी उससे ऐसे ही बात कर रहे थे जैसे किसी ज़िम्मेदार शख़्स से, जैसे किसी लड़की के माँ–बाप से बात की जाती है।

पिता के न रहने के बाद यह पहला अवसर था जब अपराजिता प्रफुल्लित थी। उसने अपने चेहरे को स्त्रियोचित तरीक़े से सँवारने का प्रयत्न किया था, पहली बार नारी सुलभ लज्जा को चेहरे पर आने दिया था फिर भी सादगीपूर्ण तरीके से ही परिधान पहन कर वह विवाह में शामिल हुई। राहुल के कॉलेज के मित्रों के साथ उसके ऑफ़िस के भी लोग शामिल हुये थे। उसके बैंक के मैनेजर शेखर भी शामिल हुये थे। शेखर की निगाहें बार–बार अपराजिता पर आ कर ठहर जा रही थीं, यह अपराजिता ने भी महसूस किया था पर उसे बुरा नहीं लग रहा था, शायद पहली बार वह ऐसी नज़र को महसूस कर रही थी। इस नज़र की छुअन को महसूस कर रही थी। कहीं न कहीं उसे अच्छा भी लग रहा था। शादी की रस्में और सहभोज ख़त्म हो जाने के बाद जाते समय राहुल ने अपने बॉस का अपराजिता से औपचारिक परिचय कराया, दोनों की नज़रें मिलीं, फिर मूक शब्दों का आदान–प्रदान और शेखर चला गया बाक़ी मेहमानों की तरह, पर अपराजिता को वह याद रह गया और शायद उसे अपराजिता। एक साल बाद राहुल की भी शादी तय हो गई।

अपराजिता प्रफुल्लित थी, राहुल की शादी की ख़ुशी तो थी ही साथ ही साथ शेखर से मिलने की भी आस थी और शायद उसे लेकर जो सपने उसने देखे थे उनमें रंग भरने का समय आ गया था। अब ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो रही थी तो अपने लिये सोचने लगी थी, शेखर की निगाहों में जो पढ़ा था वह जीवन का पहला प्रेम पत्र था, जिसमें अक्षर नहीं थे बस एहसासात की गर्मी थी जिसकी ऊष्मा को उसने भी महसूस किया था और उसके सपनों का आधार भी वही एक नज़र थी।

अन्य लोगों की तरह शेखर भी सम्मिलित हुआ था और जब वह सबसे मिलते हुये शेखर के पास पहुँची तो देखा कि वह अपने पार्श्व में बैठी एक

नवविवाहिता से बड़ी बेतक़ल्लुफ़ी से बातों में मशग़ूल था। अपराजिता को सामने देख सामान्य शिष्टाचार से उसने नमस्कार किया और अपनी पत्नी से भी अपराजिता का परिचय कराया। अपराजिता क्षण भर को सन्न रह गई, उसके सपनों का कच्चा–पक्का महल यों भरभरा कर गिर पड़ेगा उसने कल्पना भी नहीं की थी। आँखों में गहन निराशा, चेहरे की सारी रौनक़ गुम हो गई, इस बदलाव को शेखर ने महसूस कर लिया। अपराजिता वहाँ से हट कर अन्दर कहीं चली गई, पर शेखर के लिये कई प्रश्न छोड़ गई। अब शेखर को उससे मिलना ज़रूरी लगने लगा। और लोगों से मिलने की बात बोल कर शेखर भी उस हिस्से की तरफ बढ़ गया जिधर अपराजिता गई थी। एक अकेले कमरे में आख़िर वह मिल ही गई। शेखर ने दरवाज़े पर दस्तक दी और भीतर गया, अपराजिता की आँखें भीगी थीं पर उसमें प्रश्न थे। शेखर समझ नहीं पा रहा था वह क्या पूछे? उसे क्या पूछना चाहिये? वह इन्तज़ार करता रहा कि अपराजिता ही कुछ पूछे उससे। आख़िर में अपराजिता ने ही पूछा, ''शेखर जी आपने शादी कब की''

शेखर – ''तीन महीने पहले।''

अपराजिता – ''आपने बताया नहीं'', फिर ख़ुद ही सम्भल कर बोली कि, ''मतलब बुलाया नहीं।''

शेखर – ''मैंने राहुल से कहा था आप को और माता जी को साथ लाने के लिये पर उसने कहा दीदी नहीं आएँगी।''

अपराजिता – ''और आपने मान लिया कि मैं नहीं आऊँगी।''

''और रास्ता भी क्या था?'' कुछ ठहर कर फिर बोला, ''उसके पहले भी तो मानना ही पड़ा था मुझे।''

अपराजिता आँखों में प्रश्न लिये बोली,''क्या मानना पड़ा था?''

शेखर हिचकिचाते हुये बोला, ''यही कि आप मुझसे शादी नहीं कर सकतीं।''

अपराजिता की आँखों में कौतूहल था,

''किसने कहा आपसे?''

''राहुल ने''।

''तो क्या आपने मुझसे विवाह की बात रखी थी राहुल के सामने?''

शेखर–''हाँ, जब तुम्हें देखा तो लगा कि तुम वही हो, जिसके साथ मैं सारी ज़िन्दगी गुज़ार सकता हूँ, तुम्हारी शख़्सियत के बारे में तो पहले ही सुन रखा था बिना देखे ही तुम पर श्रद्धा थी, तुम्हारे लिये सम्मान था पर देखने के बाद बस प्रेम रह गया। पर राहुल ने कहा कि दीदी के पास माँ की ज़िम्मेदारी है तो वह विवाह नहीं करेंगी यदि वह करेंगी तो माँ अकेली रह जाएँगी। मैंने कहा कि माँ को तुम अपने पास बुला लेना पर राहुल ने कहा कि शादी के बाद वह माँ को साथ रखने में सक्षम नहीं होगा व्यक्तिगत कारणों से, वैसे भी दीदी तो आदी हो गई हैं ऐसी ज़िन्दगी की, पर मुझे तो अपनी ज़िन्दगी अच्छे से जीनी है। माँ का वहीं रहना ठीक होगा, इसलिये दीदी का विवाह किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।'' सुन कर अपराजिता सन्न रह गई। शेखर और भी कुछ कह रहा था मगर अपराजिता सुन नहीं पा रही थी। शेखर ने माफ़ी माँगी और साथ में अलविदा कह कर चला गया और छोड़ गया अपराजिता को तमाम सोचों के भँवर में अकेला।

विवाह समारोह के बाद अगले दिन सभी आराम कर रहे थे ऊपर के कमरे में बहन–बहनोई, राहुल, उसकी पत्नी, उनके दोस्त क़हक़हे लगा रहे थे। अपराजिता अन्दर से टूटी हुई थी, सीढ़ियों पर उसकी पदचाप सुन कर ऊपर ख़ामोशी सी छा गई, जैसे वह हँसी ख़ुशी की दुश्मन हो, जैसे उसे हँसने का तो छोड़ो हँसी सुनने का भी अधिकार न हो।

अगले दिन सब चले गये, रह गई वह और माँ। जो बस उससे खाने के समय पूछने आ जाती थी। अपराजिता दो–तीन दिन से न ऑफ़िस गई न कहीं और। शेखर को खो देने की निराशा उसके मन में सदमे की तरह

बैठ गई। पहली बार कोई सपना सजाया था उसने और वह भी टूट गया, वह भी उसके अपनों के स्वार्थ के कारण, वह अपने, जिनके लिये उसने अपना जीवन, अपने सपने होम कर दिये थे। तीसरे दिन जब माँ ने उसके कमरे का दरवाज़ा खटखटाया तो वह खुला हुआ था, माँ धीरे से अन्दर गई तो देखा अपराजिता बिस्तर पर बैठी हुई है, खुली आँखों से लगातार शून्य में, कुछ देखे जा रही है। पता नहीं चल रहा, साँस ले रही है या नहीं। स्थिर मूर्ति की तरह अपलक, माँ ने घबराते हुये उसके कन्धे को हिलाया पर वह जागी नहीं, बस ज़ोर से चीख़ी, ''मुझे दीदी मत कहो।'', ''मुझे दीदी मत कहो।'' और पागलों की तरह कभी रोने लगती तो कभी हँसने लगती। वह जो कभी नहीं हारी थी, आज हार गई थी अपने टूटे सपनों से, अपने अपनों से। इसीलिये एक नयी दुनिया में जा पहुँची थी, सच ही तो है पागलों की अपनी एक दुनिया होती है, न दर्द का एहसास, न ख़ुशी का, न नफ़रत का, न प्रेम का। हाँ, कुछ लोग जो कभी उसे देखने जाते थे उन लोगों ने बताया कि पागलख़ाने में भी वह बस यही बोलती रहती है – ''मुझे दीदी मत कहो।'', ''मुझे दीदी मत कहो।''

—o—

मुझे वह उलझन दे दो

घाट पर कुछ लोग घर से ही शव वाहन में बैठ कर आए थे, बाक़ी सब धीरे–धीरे आते जा रहे थे। दोस्त–यार, रिश्तेदार, मोहल्ले के लोग। कुछ वो, जिन्हें मुझसे लगाव था। कुछ वो, जिन्हें मुझसे कुछ काम था, मैं निर्विकार रूप से सबका आना देख रहा था, मेरी शक़्ल देख कर कोई मुझसे नहीं पूछ रहा था कि क्या हुआ? भीड़ में ही किसी और से पूछ लेता औपचारिकतावश कि क्या हुआ था? क्या बीमार थीं माता जी? क्या!! एडमिट थीं, अरे कब से? अभी परसों तो मिला था शेखर, उसने कुछ बताया ही नहीं। फिर चेहरे पर एक परेशानी का भाव, ये अलग बात थी कि वह परेशानी का भाव जितनी तेजी से आता उससे भी जल्दी चला जाता।

फिर लकड़ी की टाल वाले की आवाज़ आई और सब वहाँ से एक–एक लकड़ी ला कर एक नियत स्थान पर रखने लगे। कुछ बार–बार अपनी घड़ी भी देखते जा रहे थे कि बस यहाँ से निबटें तो अपना काम देखें जा कर। सब इधर–उधर चार–चार, छः–छः के झुण्ड में खड़े बातें कर रहे थे। मेरे दुःख से बहुत दूर उनके चेहरों पर अब पहले सी हँसी थी। अन्ततः दाह संस्कार की सभी प्रक्रियायें पूर्ण हुईं और मुखाग्नि के साथ क्रिया सम्पन्न हुई। जैसे सब इसका ही इन्तज़ार कर रहे थे लगा जैसे चिता में आग नहीं लगी है, उस जगह ही आग लग गई है और सब जान बचा कर भाग खड़े हुए। हालाँकि सभी नहीं, कुछ रिश्तेदार जो दूर से आये थे उनका रुकना मजबूरी भी था और शायद सामाजिकता के नाते ज़रूरी

भी, कुछ वह जो साधन विहीन थे वो शव वाहन के वापस जाने तक फँसे थे, हाँ कुछ दोस्त–यार ऐसे भी थे जो मुझे अकेला छोड़ कर नहीं जा सकते थे, मेरे दुःख को भी किसी हद तक समझते थे।

मुझे लगा माँ का शरीर जब तक राख़ में नहीं बदल जाता वहीं रूकूँ। यह अन्तिम सान्निध्य, फिर न माँ होगी, न उसकी ममता, न उसका आँचल न आँचल की छाँव, न उसकी गन्ध। बस जो बचा है वह कुछ पल का है इसे ही आत्मसात कर लूँ

जो घनिष्ठ थे वो पास आ कर बैठ गये और ढाँढस बँधाने लगे कि भगवान की मर्ज़ी के आगे किसकी चली है, जो आया है उसे जाना है या यह कि हाँ, तुम्हें दुःख है समझता हूँ, पर माँ के कष्टों का अन्त हुआ, उन्हें मुक्ति मिली। आख़िर तीन सालों से बिस्तर पर थीं, सारी नित्य क्रियायें भी बिस्तर पर, वह बोल नहीं सकती थीं लेकिन शायद यही चाहती थीं। वग़ैरह–वग़ैरह।

ख़ैर, धीरे–धीरे लकड़ियों के साथ–साथ शरीर भी राख़ हो गया। रह गई बस दहकती आग। मैं अपने आँसू पोछता धीरे–धीरे श्मशान घाट से बाहर आ गया। जैसे भी हो घर पहुँचा। घर में कुछ रिश्तेदार और परिवार के लोग, सबके बीच से गुज़रता हुआ घर के अन्दर उस कमरे में जहाँ अपने जीवन के 3 वर्ष माँ ने बिना कुछ कहे, बिना कुछ महसूस किये (कम से कम मुझे और बाक़ी लोगों को तो यही लगता था) बिना कोई शिकायत किये बिता दिये थे। आज वह जगह ख़ाली थी जहाँ उन्हें देखने की आदत सी हो गई थी। एक अजीब सी कैफ़ियत थी मन की, कुछ तो ऐसा था जो होना चाहिये था पर अब नहीं है। मैं कमरे में इधर–उधर चलने–फिरने लगा, बेचैनी में टहलने लगा पर सब बेकार। माँ को देखने जाना, उनके कपड़े बदलना, उन्हें उठा कर व्हील चेयर पर बिठाना, उनका बिस्तर साफ़ करना, फिर दवा देना, जाने से पहले जो उनके गले से नीचे जा सकता था वह खिला कर निकलना। शाम को कहीं कितना भी ज़रूरी हो, न जाना। कारण वही कि माँ की तबियत ख़राब है, मुझे ही देखना पड़ता है।

घर आ कर सुबह की प्रक्रिया को दोहराना, फिर सोने जाना। इन तीन सालों में सामाजिक जीवन बहुत सीमित हो गया था, कभी–कभी अचानक उनकी असंयमित साँसों के उतार–चढ़ाव के कारण हॉस्पिटल भी तो जाना पड़ता, फिर घर लाने पर वही रूटीन।

शुरूआत में तो कुछ दिन लगा कि माँ जल्दी ही ठीक हो जायेंगी, फिर समय बढ़ता गया और उम्मीद झुँझलाहट में बदलने लगी। माँ के कारण हमेशा एक उलझन में घिरा रहता था मैं। हाँ, उलझन ही तो। शायद माँ ने समझ लिया था कि यह इति है, शायद इसीलिये..., नहीं ऐसा नही हो सकता मैंने तो कभी कुछ नहीं कहा। पर वह माँ थी बेटे की पेशानी पर पड़े बल भी पढ़ लेती थी। ओह! शायद इसी लिये उसके जीवन की डोर उसके हाथों से छूट गई। पर अब तो वह नहीं है फिर मैं क्यों परेशान हूँ, समझ नहीं आ रहा था। बस मैं कमरे में कुछ ढूँढ रहा हूँ, हाँ, उलझन, वही तो नहीं है अब। वही तो मैं ढूँढ रहा हूँ। मुझे वह उलझन ही चाहिये, जिसके साथ मैं तीन साल से जी रहा हूँ। अचानक मैं रोते–रोते चीख पड़ा, सब उस कमरे की तरफ भागे, मुझे देख अवाक् खड़े रह गये। मैं बस यही चिल्ला रहा था, ''मुझे वह उलझन दे दो, मुझे मेरी माँ दे दो।''

—o—

अपाहिज कौन

न्याय के मन्दिर जहाँ न्याय करने के लिये न्यायाधीश हैं, पक्ष रखने के लिये वकील और न्याय की आस में वहाँ आने वाले लोग।

वास्तव में तो बहुत से केस ऐसे होते हैं, बल्कि यह कहना सही होगा कि कुछ को छोड़ कर लगभग सभी केसों में पहले दिन से ही वकील को पता होता है कि वह सच के साथ खड़ा है या झूठ के। अगर सच के साथ खड़ा है तो बड़ी चुनौती होती है और झूठ के साथ खड़ा है तो येन केन प्रकारेण उसे सच साबित करना अपेक्षाकृत सरल होता है, यही सच्चाई है न्याय के मन्दिरों की। वकील आर्टिकल्स, धाराओं, नियमों, साक्ष्यों के दाँव–पेंच चलते हैं और सच, वह मुँह बाये खड़ा देखता रहता है कि उसे आज ख़ुद को साबित कर पाना कितना कठिन हो गया है स्वयं उसके लिये। फिर भी लोग आते रहते हैं अपनी आशाओं के साथ। वकील भी तो सपने बेचेते हैं, झूठे या सच्चे, कौन जानता है उनके सिवा।

समीर रोज़ की तरह न्यायालय परिसर के अपने चैम्बर में बैठा था। वैसे वकीलों के ऑफ़िस को सबसे पहले चैम्बर किसने कहा और क्यों कहा, पता नहीं, शायद इसलिये कहा होगा कि वकील अपने मुवक्किल को ये जानते हुए भी कि एक दिन इसके हिस्से में हार आयेगी, सपने बेचते रहते हैं और अपनी बातों का मूल्य वसूलते रहते हैं। वह धीरे–धीरे घुटता रहता है पर वह उसे ख़ुद से अलग नहीं होने देते, उसकी सामर्थ्य के समाप्त होने तक। पर उनकी भी मजबूरी है, उनके भी सपने हैं। ख़ैर, जंगल में हर शिकारी ख़ुद भी शिकार है, हालांकि जब तक वह ख़ुद किसी

का शिकार न बन जाये उसका भ्रम नहीं टूटता है।

अरे यार, मैं भी कहाँ भटक कर जंगल और शिकार में फँस गया। बात तो न्याय के मन्दिर की हो रही थी, तो समीर अपने चैम्बर में बैठा अपने कुछ कामों को निपटा रहा था, अचानक मोबाइल की रिंग बजी, देखा कोई अपरिचित नम्बर था। फ़ोन उठा कर हैलो बोला, उधर से किसी ने उसका नाम ले कर बोला कि मैं न्यायालय परिसर में हूँ एक केस के सिलसिले में आपसे मिलना चाहता हूँ, समीर ने उधर की आवाज़ को ख़ुद के चेम्बर तक पहुँचने का सही रास्ता बताया। (न्यायालय परिसर में किसी वकील के चैम्बर को ढूँढ पाना हँसी–खेल नहीं है) और उसके आने का इन्तज़ार करने लगा। ठीक पाँच मिनट बाद किसी ने चैम्बर के अन्दर क़दम रखा और उसका नाम ले कर उससे मुख़ातिब हुआ। समीर ने अपने सामने की कुर्सी पर बैठने का इशारा किया उस व्यक्ति जिसकी उम्र लगभग उनतालीस वर्ष की होगी, नैन नक्श साधारण, पर संभ्रान्त व्यक्तित्व की तरफ़ और आगे बात के आशय से देखा। उसने समीर के एक परिचित मित्र का नाम ले कर कहा कि उन्होंने आपके बारे में बताया था, तो समीर ने आँखों में पहचान का भाव ला कर कहा, बताइये आपकी क्या मदद कर सकता हूँ। उसने बताया "मेरा नाम शेखर है, लगभग आठ साल पहले मेरी शादी नेहा से हुई थी। मेरी पत्नी नेहा का व्यवहार घर के लोगों के प्रति अच्छा नहीं था, अलग रहने की ज़िद करना, बार–बार मायके चले जाना, बड़ों की इज़्ज़त न करना, माँ से अपशब्द कहना आदि–आदि कई बातें हैं। पिछले चार सालों से वह अपने मायके में ही है और कई केस कर रखे हैं, मुझे व मेरे घर वालों को परेशान करने के लिये, जो वकील केस देख रहे हैं मेरी तरफ से वह भी मेरे मुक़दमे को ले कर गम्भीर नहीं है, पर मैं अब ऊब चुका हूँ, मेरे परिचित ने आपका नाम सुझाया तो मैं आपके पास आया हूँ ताकि मेरे केसों का जल्द से जल्द निबटारा हो जाये, हो सके तो वन टाइम सेटलमेन्ट करवा दीजिये ताकि रोज़–रोज़ के कोर्ट के चक्करों से छुटकारा मिले।"

समीर ने सारी बात समझ कर शेखर से उसके केस की सारी डिटेल्स व फ़ाइलें माँगी ताकि पता चल सके कि क्या वाक़ई वकील की तरफ़ से ढिलाई हो रही है या शेखर में ही जल्दबाज़ी भरी हुई है। ख़ैर, सब चीज़ें ले कर आने की बात हुई और शेखर नमस्ते बोल कर निकल गया।

ठीक तीसरे दिन वह दोबारा समीर के ऑफ़िस में था, अपने वकील से सारी फ़ाइलें ले आया था और सामने रखते हुये फिर वही बात दोहराई कि बस एक बार दे दिला कर मेरा निबटारा करा दीजिये। समीर ने तसल्ली रखने को कहा और फ़ाइलों को स्टडी किया, वाक़ई शेखर के वकील ने ईमानदारी से अपना काम नही किया था। समीर ने केस की सभी फ़ाइलें ले लीं और शेखर की तरफ़ से पैरवी करने का मन बना लिया।

एक दो तारीख़ों के बाद ही समीर ने दूसरे पक्ष के वकील के सामने आपसी सहमति से तलाक़ का प्रस्ताव रखा ताकि दोनों का काम आसान हो जाये। मुवक्किलों को रोज़–रोज़ कोर्ट के चक्करों से मुक्ति और वकीलों को एकमुश्त फ़ीस। सामने वाले वकील ने भी समझते हुये अपने मुवक्किल से बात करने का मन बनाया। इसी ढंग से कोर्ट के बाहर सेटलमेन्ट कर उसे कानूनी जामा पहनाना ही ठीक होगा इसी बात के लिये उसने अपने मुवक्किल को राज़ी किया, फिर समीर को सूचना दी।

समीर के चेहरे पर विजयी भाव आ गया, अब बस रक़म तय होनी बाक़ी थी और फ़ीस से कई गुना ज़्यादा रक़म भी मिलने का पूरा चांस था। नेहा के वकील ने दस लाख की बात की तो समीर ने शेखर से बारह लाख की। फिर तय तोड़ हुआ नेहा आठ लाख पर तैयार हो गयी और समीर ने अपने मुवक्किल को दस लाख में समझौता कराने का भरोसा दिलाया।

इससे पहले कि लेन–देन हो पाता और सब समाप्ति की ओर बढ़ पाता, अगली तारीख़ पर नेहा कोर्ट नही आई। जिसे अब तक समीर ने देखा भी नहीं था। फिर पता चला कि अगली तारीख़ पता करने के लिये भी उसका फ़ोन नहीं आया। पर समीर को धुन सवार थी कि किसी तरह से ये केस ख़त्म हो जाये और उसे उसकी मोटी रक़म मिले। जब नेहा

के वकील ने बताया कि नेहा का मोबाइल नम्बर भी बराबर स्विच ऑफ़ आ रहा है तो समीर को थोड़ी झुँझलाहट हुई और एक हफ़्ते बाद भी जब ऐसी ही स्थिति रही तो उसकी फ़ाइल से नेहा का एड्रेस लिया और एक छुट्टी वाले दिन उस पते पर जा पहुँचा। उसने घर के बाहर बैठी एक युवती से नेहा का नाम पूछा तो युवती ने गहरी नज़रों से देखकर पूछा कि आप को क्या काम है नेहा से? समीर बोला, ''मैं कोर्ट से आया हूँ''।

अब वह युवती थोड़ी उत्सुकता एवं असहजता से बोली, ''बताइये मैं ही नेहा हूँ।''

समीर तुरन्त बोला, ''नेहा जी मैं आपके पति शेखर का वकील हूँ। पिछली तारीख़ों पर आप आईं नहीं इसलिए मुझे आना पड़ा, ताकि आप लोगों के विवाद का निबटारा हो सके।''

नेहा बगल की दीवार का सहारा ले कर खड़ी हुई और समीर को अन्दर आने का इशारा कर के मुड़ कर चल दी। तब समीर ने देखा कि वह एक पैर से अपंग है, समीर को आश्चर्य भी हुआ और शेखर पर ग़ुस्सा भी आया कि उसने यह बात छुपाई क्यूँ।

कमरे में समीर को बैठा कर नेहा उसके लिये पानी ले कर आई और समीर के न–न कहने पर भी चाय बनाने के लिये चली गई। समीर सामने आई स्थिति से असहज हो उठा था, जो बात लेकर आया था वह कह पाने की हिम्मत जुटाने की कोशिश करने लगा।

कुछ ही देर में नेहा चाय ले कर कमरे में आयी और समीर के चेहरे की तरफ़ देखते हुये वहीं दरवाज़े के पास ज़मीन पर बैठ गई। नेहा को कुछ कहना नहीं पड़ा उससे कुछ कहने से पहले ही उसकी आँखों के प्रश्नों ने समीर को बोलने पर मजबूर कर दिया।

समीर ने नेहा के वकील से हुई बात को दोहराया तो नेहा ने कहा कि, ''हाँ, बात तो हुई थी और मैंने अपने वकील से दस लाख रू0 पर समझौते की बात की थी, मेरे माँ–बाप नहीं हैं, केवल एक बड़ी दीदी हैं, उनका

अपना परिवार है। मैं उन पर बोझ नहीं बन सकती, केवल हर महीने पाँच हजार की तो दवाइयाँ ही होती हैं मेरी, कौन देगा मुझे, कम से कम इन रूपयों को जमा कर उसके ब्याज से अपना ख़र्चा तो उठा पाऊँगी मैं।'' समीर ने जब उसकी अपंगता की वजह पूछी तो उसने बताया कि, ''विवाह के पहले से ही उसे थोड़ी समस्या थी पर इतनी नहीं थी। शेखर और उसके घरवालों को सारी बातें पता थीं कुछ भी नहीं छुपाया था उनसे। फिर उस समय उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, बाक़ी लड़कियों की तरह मैंने भी ख़ुद को पूरे परिवार के लिये समर्पित कर दिया, पर मेरा समर्पण उनकी नज़र में एक नौकरानी से ज़्यादा महत्व नहीं पा सका। मेरी दवाइयों का ख़र्च भी उन्हें भारी लगने लगा, उन्होंने मेरी दवाइयाँ बन्द करा दीं और मेरी ज़रा सी बीमारी इलाज के बिना मुझे अपाहिज बना गई। अब चूँकि मैं उनकी नौकरानी बनने के भी लायक़ नहीं रही तो उनके घर में कैसे रहती।'' समीर जो सोच कर आया था वह नहीं कह सका। उसने नेहा से वादा किया कि, ''मैं तुम्हें दस लाख ही दिलवाऊँगा और चुपचाप नमस्ते कह कर वापस लौट आया।''

कुछ भी हो इंसानियत वह पौधा है जो कब–कहाँ किस दशा में पनप जाये कोई नहीं जानता, पैसा बहुत कुछ है पर सब कुछ नहीं। कुछ ऐसा भी है जो उससे बड़ा है वह है ज़मीर, समीर इस सत्य को समझ चुका था। आख़िर वह दिन भी आया जब नेहा को उसकी माँगी हुई रक़म मिल गई और शेखर को उससे छुटकारा। कोर्ट के बाहर आ कर, समीर को लगा कि शायद उसने अपने कर्तव्य का अच्छे से निर्वाह किया पर नेहा के चेहरे को देख कर उसे एहसास हुआ कि नहीं कुछ है जो अधूरा है, कुछ है जो वह समझ नहीं पा रहा है।

नेहा ने शेखर के सामने जा का झुक कर उसके पैर छुए, शेखर हड़बड़ा कर पीछे हटा और नेहा अपने अपाहिज शरीर को सम्हाल न सकने के कारण लगभग गिर ही गई। समीर ने तुरन्त सम्हाल कर खड़ा किया। नेहा ने शेखर की तरफ़ देखते हुये कहा, ''शेखर मेरा सपना था

कि किसी के नाम का सिंदूर मेरी माँग में जगमगाए, तुमसे मेरी वो साध पूरी हुई, भले ही समाज की नज़रों में मैं तुम्हारी परित्यक्ता हूँ पर अपनी नज़र में मैं आज भी तुम्हारी ब्याहता पत्नी हूँ। मेरे जीवित रहते तुम्हें कभी मेरी ज़रूरत महसूस हो तो मुझे बुलाना मैं हमेशा तुम्हारे लिये ही हूँ। काग़ज़ के कुछ टुकड़े मुझे तुमसे कभी अलग नहीं कर सकते, तुम्हारे नाम का सिन्दूर मुझे मेरी माँग में भरने से कोई नही रोक सकता, ये मंगलसूत्र मेरे मरने पर ही उतर सकेगा। सुहाग की चूड़ियाँ ऐसी ही रहेंगी मेरी कलाई पर, अगर कोई हवन कुंड के उन सात फेरों को उल्टा करवा सकता हो तो बताओ वरना मैं हमेशा तुम्हारी ही रहूँगी और यह सारा रूपया तुम्हें मेरे न रहने पर मिल जायेगा, उसके पहले मैं तुम्हारी ही कमाई पर जीवित रहूँ बस इसलिये ये लिया है।'' अपना आँसुओं मे भीगा चेहरा लिये वह धीरे–धीरे कोर्ट की सीढ़ियाँ उतर कर चली गई, अपने अपाहिज पैर घसीटते हुये। समीर समझ नहीं पा रहा था कि अपाहिज कौन था, नेहा या यह समाज?

—o—

स्थित प्रज्ञ भवः

सारा उल्लास ख़त्म हो चुका था, सारे सपने दम तोड़ चुके थे। ग्रेजुएशन के अन्तिम वर्ष में सभी सहपाठी अपनी भविष्य की योजनाओं पर चर्चा करते और उन्हें सच करने का दम भरते, उम्मीदें ऐसी कि जैसे ज़िन्दगी का सफ़र नहीं रेलगाड़ी का सफ़र है। बस सारे रिज़र्वेशन करा लिए और ट्रेन चढ़ते–उतरते आराम से घूमघाम कर जहाँ जाना चाहा पहुँच गए। पर ज़िन्दगी के सफ़र में रिज़र्वेशन नहीं होता, हाँ रेलगाड़ी होती है पर जनरल डब्बों वाली। एक जगह से दूसरी जगह पहुँच पाना आसान नहीं होता और रास्ते के अन्तहीन संघर्ष। पर संघर्ष भी तब होंगे जब आप किसी तरह से डब्बे में चढ़ पाएँ, पहला संघर्ष तो यही होता है।

संजय के साथ के सहपाठियों में जो लड़कियाँ थीं उनमें से अधिकतर के पिछले तीन सालों में विवाह हो चुके थे या जल्दी ही हो जाने वाले थे। यहाँ तक कि शेफ़ाली भी जो अब तक संजय से प्रेम करने के कारण विवाह करने से बचती रहती थी, अब अपने घर वालों के आगे हथियार डाल चुकी थी और ऐसी कोई वजह संजय के पास भी नहीं रह गई थी जो वह शेफ़ाली को रूकने के लिये कह सके। प्रेम बहुत कुछ है पर सब कुछ नहीं, दोनों समझ चुके थे। साथ के यार दोस्त या तो थक हार कर छोटा–मोटा धन्धा करने लगे थे या उनमें से कुछ दोस्त बेकारी से बेग़ार अच्छी की तर्ज़ पर काम कर रहे थे। दो–चार दोस्त ऐसे थे जो या तो क़िस्मत वाले थे या घर से मज़बूत, कि उन्हें नौकरी मिली थी या व्यवसाय कर रहे थे। बेकार के दोस्तों में तो अब भी पटती थी पर कामकाजी दोस्त

सब व्यस्त हो गये थे। या फिर जितने व्यस्त थे उससे ज़्यादा व्यस्त होने का दिखावा करते थे वरना दोस्ती में जेब कटानी पड़ती है। इधर संजय ने दो सालों में जी तोड़ कोशिशें कर ली थीं, सरकारी नौकरी में मेरिट से बाहर हो जाता और प्राइवेट नौकरी की शर्तों से हार जाता। अब कोई प्राइवेट कम्पनी ऐसे ही किसी ऐरे–ग़ैरे को तो ऑफ़िस में बैठा कर तन्ख़्वाह नहीं दे सकती और फ़ील्ड के काम के लिये कम से कम मोटर साइकिल चाहिये, यहाँ संजय के पास मोटर साइकिल तो दूर बिना मोटर की साइकिल भी नहीं थी। पूरी तरह से दो पैरों की ग्यारह नम्बर बस पर निर्भर।

अब तो घर वालों ने भी पूछना बन्द कर दिया कि क्या हुआ, वो फ़लाँ परीक्षा दी थी या वो जो परसों इन्टरव्यू दिया था या अब कोई फ़ार्म भरा है या नहीं? पता नहीं वह संजय को निराश नहीं करना चाहते थे या ख़ुद निराश हो चुके थे। पिता को यह भी लगता कि कहीं ऐसा न हो कि यह मुझसे कोई धन्धा करने के लिये रुपये माँग बैठे, इसलिये चुप ही रहते। यहाँ तक कि अगर वह घर आ कर बिना खाये भी सो जाता तो कोई न पूछता, ख़ाना खाओगे या ख़ाना खा कर आये हो।

रोज़ ही शाम को चौराहे पर सब इकट्ठे हो जाते, पुराने दोस्तों के बारे में बातें होतीं उनमें से जो अब भी बेकार थे उनके लिये सहानुभूति और जो कामकाजी हो गये थे उनकी निंदा या इसे फ़्रस्टेशन भी कह सकते हैं, उस दिन भी सब इकट्ठा थे, इधर–उधर की बातें हो रही थीं। तभी राजीव ने आ कर संजय के हाथ में शादी का कार्ड थमा दिया, धीरे से बोला, ''शेफ़ाली आई थी, उसकी अगले महीने शादी है।'' संजय ने हल्का सा मुस्कुरा कर कार्ड लिया और कुछ देर देखता रहा। फिर चुपचाप उठ कर चला आया। सारे दोस्तों में से किसी की हिम्मत नहीं पड़ी उससे कुछ कहने की, उसे सांत्वना देने की। सब उसकी मुस्कुराहट से उसके दर्द को भाँप गये और सभा बर्ख़ास्त हो गई।

उस दिन से संजय की अपने लिये बेरुख़ी और बढ़ गई, कपड़े जो

मिले, पहन लिये, खाना मिला या नहीं मिला कोई फ़र्क़ नहीं, किसी नौकरी की तलाश नहीं रही। घण्टों पास की नदी के किनारे जा कर बैठे रहना, लहरों का बनते बिगड़ते देखना, कई बार उसमें कुछ अन्दर तक जाना फिर लौट आना। शायद अभी मरने की हिम्मत नहीं जुटी थी, शायद अभी भी कुछ उम्मीदें बाक़ी थीं। शेफ़ाली की शादी के दिन तो कुछ और देर से सो कर उठा, शायद रात भर सोया ही नहीं, इधर–उधर करते दोपहर हो गई। किसी ने किवाड़ खटखटाया–''डाकिया आया है'' जिसने किवाड़ खोला उसने उसे आवाज़ दी। तुम्हारे नाम की कोई रजिस्ट्री है अन्मयस्क सा बाहर आया दस्तख़त किये और लिफ़ाफ़ा ले कर अन्दर आ गया। कमरे में आ कर उसे खोला तो एस०एस०सी० की परीक्षा में पास होने का पत्र था मतलब सरकारी नौकरी मिल गई थी पर उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह ख़ुश हो या दुःख के मारे रो पड़े। वह किसी से कुछ नहीं बोला बस शेफ़ाली की शादी का कार्ड और सरकारी नौकरी का पत्र उठाये सीधा नदी के किनारे जा बैठा। कुछ देर तक नदी की लहरों को देखता हुआ उठा और एक हाथ में शादी का कार्ड दूसरे में सरकारी चिट्ठी लिये हुये वह नदी के अन्दर तक चलता चला गया, उससे भी आगे तक जहाँ से वह डर कर लौट आता था। पता नहीं आज क्यों नहीं डरा, आज क्यों नहीं लौटा, शायद उसे स्थित प्रज्ञ भवः का आर्शीवाद मिल गया था। न सुख, न दुःख, न आशा, न निराशा, न दर्द, न ख़ुशी, न पीड़ा, न एहसास।

—o—

अबोली कहानी

आप सोचेंगे कि जब जन्म ही नहीं हुआ तो कहानी कैसी, किसकी कहानी, किसने कही? परदेसी कहानियाँ होती हैं जो जन्म नहीं ले पातीं, मार दी जाती हैं, अजन्मी, अबोली, अनकही रह जाती हैं। बस यह भी ऐसी ही कहानी है।

शुरू वहाँ से करना चाहता हूँ वास्तव में जहाँ से शुरू होती है। आसमान के उस पार विधाता बैठ कर धरती पर अपनी कृतियों के क्रिया–कलापों को देख–देख कर मन्द–मन्द मुस्कुरा रहे थे। विधाता को ऐसे ख़ुश होता देख एक नन्ही सी परी उत्सुकता से परमात्मा की गोद में जा बैठी, अपने नन्हें–नन्हें हाथों से उनका चेहरा पकड़ कर पूछने लगी, ''क्या सच में धरती इतनी प्यारी है?'' परमात्मा मुस्कुरा दिये, बोले, ''हाँ, बहुत प्यारी है, जो मुझे नही मिल सकता वह भी वहाँ धरती पर प्राप्य है''। नन्ही परी ने उत्सुकता से पूछा, ''तो क्या है जो यहाँ नहीं है पर धरती पर मिल सकता है?''

माँ और पिता, उनका दुलार, स्नेह, उनकी ममता, मेरी प्यारी बेटी, परमात्मा ने जवाब दिया। वह ख़ुशी में किलकारी भर कर बोली, ''मैं भी वो सब पाना चाहती हूँ।''

परमात्मा का चेहरा थोड़ा शान्त और चिंतित हो गया, ''नहीं मेरी बच्ची, वहाँ दुःख भी हैं, तुझे कैसे उस दुनिया में भेज दूँ?''

पर उस नन्ही परी ने ज़िद पकड़ ली तो परमात्मा ने उसकी बात मान ली और अपने पास बैठा कर बोले, ''क्यूँ कि तुम मेरी सबसे प्यारी बेटी हो,

तो तुम्हें उस घर में ही भेजूँगा, जहाँ तुम चाहोगी, देखो नीचे वहाँ धरती पर और बताओ किस घर में जन्म लेना चाहती हो।''

नन्ही परी ने धरती को देखा और विधाता से बोली,'' मुझे सभ्यता और संस्कृति से परिपूर्ण जहाँ नारी को देवी माना जाता है उस भूमि पर भेज दीजिये।''

विधाता ने अपनी प्यारी बेटी के लिये एक घर चुना जहाँ एक नये मेहमान का इन्तज़ार हो रहा था, चाह थी बचपन की किलकारियों की। साथ ही उस के होने वाले माँ–बाप की क़िस्मत में बेटी के जन्म के साथ ही अतुल्य समृद्धि, यश–वैभव लिख दिया और बड़े प्यार से अपनी प्यारी बेटी को धरती की ओर विदा कर दिया।

विमल और कीर्ति, हाँ यही थे उसके माता–पिता, जहाँ उसे जन्म लेना था। कीर्ति को अब पाँच माह का गर्भ था उसे अपने अजन्मे बच्चे के लिये बहुत उत्सुकता थी। कितनी ही बातें, कितने ही सपने, वह दोनों सजा रहे थे, पर यह क्या दोनों की सारी बातों में बेटा ही क्यूँ होता है, समझ नहीं पाती थी, वह नन्ही परी। वह तो बस इसमें ख़ुश थी कि जब बेटे की जगह वह जन्मेगी तो चौंका देगी, अपने माँ–बाप को। वह यही सोच कर ख़ुश होती कि कैसे–कैसे लाड़ करेगी उनसे, और वह उस पर अपना सारा प्यार लुटा देंगे। कितनी ही बातें सोचती और मुस्कुराती।

उधर भारतीय संस्कृति इतनी घायल हो चुकी थी, सभ्यता रही ही नहीं थी, धरती नरों से नहीं, नराधमों से भरी हुई थी। विमल और कीर्ति ने मेडिकल टेस्ट में जब पाया कि आने वाली सन्तान बेटा नहीं बेटी है, उन्होंने उसकी हत्या का विचार बना लिया। हत्या ही तो कहेंगे इसे, बस, मरने वाले का कोई नाम नहीं होता, पर अस्तित्व तो होता है न, तो उस अस्तित्व की हत्या के साथ ही अपने सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदलने का निर्णय कर लिया।

नन्ही परी अभी इस अमानुषिक भाषा की अभ्यस्त नहीं थी वह अभी भी आने वाले जीवन के कितने ही ख़्वाब सँजोने में तल्लीन थी। तभी उसे

एहसास हुआ कि किसी कठोर सी चीज ने उसकी तन्द्रा को भंग किया, कोई ऐसी चीज़ जिससे वह अभी परिचित नहीं थी, उसके अभेद्य सुरक्षा कवच को तोड़ उसके पास आ चुकी थी, वह कुछ समझ पाती, उससे पहले ही उस चीज़ ने उसके नन्हे से शरीर से उसके एक पैर को अलग कर दिया। वह रोई चिल्लायी, उसने अपनी माँ को पुकारा,''माँ, मुझे बचाओ, देखो कौन मेरे और तुम्हारे सपनों को तोड़ने का प्रयत्न कर रहा है। पर यह क्या? उस चीज़ ने दुबारा उसे आहत किया, उसने फिर अपने पिता को आवाज़ लगाई, आख़िर पिता रक्षक जो होता है। स्वाभाविक रूप से पिता का बेटी के लिये और बेटी का पिता के लिये प्रेम अधिक ही होता है पर सब बेकार, उसकी चीख़ें गूँजती रहीं और उसके अंग–अंग कटते रहे। वह कुछ सोच नहीं पा रही थी पर दिमाग़ में उथल–पुथल थी कि किसे पुकारूँ, पर हाय री क़िस्मत इस आख़री पुकार के बाद भी केवल वही कठोर एहसास उसके हिस्से आया और इस बार उसके कोमल कपाल को ही भंग कर गया, वह जो एक रचना बन सकती थी आज मिट गई। उसने अपने आप को अपनी माँ के शरीर से बाहर देखा और देखा कि उसका शरीर जिसके दम पर वह उड़ान भरना चाहती थी, कितने ही टुकड़ों में बँटा एक छोटे से बरतन में पड़ा हुआ था और उसके पिता जिन्हें वह अपना रक्षक समझती थी वही उसकी हत्या के बदले एक शैतान आत्मा को पारितोषिक दे रहे थे। अपने सपनों की उड़ान लिये लहुलूहान आत्मा लिये रोती–कलपती वह वापस चली गयी, वहीं, जहाँ से आयी थी। देखा तो विधाता आँसूओं से भीगे हुये बिना कुछ बोले उसे गोद में ले कर बस रोते जाते थे, रोते जाते थे। क्योंकि आज एक कहानी फिर अबोली रह गई थी।

—o—

लव बर्ड्स प्वाईंट

कहानी के शीर्षक से भ्रमित मत होइयेगा। प्यार के पंछियों का बसेरा, ज़रूरी नहीं नन्हे–नन्हे पंछियों की कहानी हो। हमारे आस–पास के, हम जैसे ही दिखने वाले पंछियों की कहानी भी हो सकती है।

हाँ, सही समझे आप, यह वह दौर था जब चिट्ठियों, पोस्टकार्डों का चलन गया नहीं था, अभी भी लोग नये साल पर ग्रीटिंग कार्ड्स भेज दिया करते थे। कुछ नया हुआ था तो वह यह कि टेलीफ़ोन अब प्राइवेट से निकल कर व्यवसायिक हो चला था। धीरे–धीरे पी0सी0ओ0 कई बेरोज़गारों का रोज़गार बन चुका था और ये पी0सी0ओ0 आधुनिक प्रेम के पंक्षियों के प्रेम को ऊँची उड़ान देने वाला आधुनिक यंत्र। हाँ, मोबाइल की शुरूआत हो चुकी थी पर वह अभिजात्य वर्ग तक ही सीमित था, जहाँ प्रेम नहीं था। प्रेम करने वाले तो बस इसी से अपने प्यार की पींगें बढ़ाने में मस्त थे और तो और इनके होने की अत्यधिक संभावनाओं वाले क्षेत्र भी निश्चित थे। स्कूल, कॉलेज इत्यादि के पास के पी0सी0ओ0 में तो वेटिंग रहती थी। एक निकले तो दूसरे का नम्बर, फिर तीसरा, फिर चौथा, बस ऐसे ही नम्बर चलते रहते थे पर मजाल कोई उफ्! कर दे। न जाने कितनी प्रेम कहानियाँ इन लव बर्ड्स प्वॉइंट पर जन्मती रहीं। कुछ पूर्णता को प्राप्त हुईं, कुछ बहक गईं और कुछ बीच में ही ब्रेक हो गईं। अजीबो–ग़रीब थे ये प्रेम के पक्षी और इनका प्यार, चलिये इनमें से ही कुछ को अपने ज़हन से निकाल कर काग़ज़ पर उतारता हूँ।

पी0सी0ओ0 का नाम कुछ भी हो सकता है, उससे इन प्रेम पंछियों की कहानी कहीं भी न रूकती है, न फँसती है।

सीन–1

वह दोनों एक निश्चित समय पर ही उस पी0सी0ओ0 में आते थे, दो अलग–अलग प्रेम कहानियों का कोई कनेक्शन था तो वो था पी0सी0ओ0 का वह केबिन। कभी लड़की का नम्बर आगे होता तो कभी लड़के का, वैसे तो और भी थे जो अक्सर आते थे पर इन दोनों की बात अलग थी। एक ही टाइम पर आना, फिर अक्सर मिलते रहने की वजह से एक दूसरे को देख कर एक छोटी सी स्माइल तो बनती है न यार। हालाँकि इस मुस्कान के पीछे सिर्फ़ रोज़ मिलते रहने से उपजा परिचय ही था, पर कहानी के अन्दर भी कोई कहानी जन्म लेने लगे तो इसमें कहानी का क्या दोष। तो हुआ कुछ यूँ कि अगर कभी उन दोनों में से आने में कोई देर कर देता था या अगर कभी कोई न आ पाता तो दूसरे की निगाहें उस दस बाई दस के पी0सी0ओ0 में उसे खोजती ज़रूर थी। जब तक वहाँ दूसरा पहुँचता नहीं था या पहला चला नहीं जाता, बराबर मुड़–मुड़ कर लाइन का जायज़ा लेता रहता और वापस जाते समय एक मायूसी भी साथ होती। शायद यह भी वह नहीं जान पाते थे कि ये मायूसी क्यों है। फिर अगले दिन मिलने पर चेहरे पर एक अनजानी सी ख़ुशी छा जाती, और अब तो दोनों इशारों में पूछ भी लेते कि कल क्या हुआ, क्यों नहीं आये? दूसरा भी बता देता जो भी वजह होती। शायद कहानी के अन्दर कहानी का बीज जम गया था पर यह न बीज को पता था न धरती को ही। कहानी शायद अपने अन्दर की इस हरक़त से परिचित थी तभी तो बेखटके, बेपरवाह बढ़ती जा रही थी। धीरे–धीरे कुछ यूँ होने लगा कि पहला केबिन से कुछ जल्दी निकलता और दूसरे का इन्तज़ार करता, मज़े की बात यह कि अब केबिन के अन्दर कम और पी0सी0ओ0 के बाहर ज़्यादा समय देने लगे दोनों, वह भी एक दूसरे को। कहानी अब परिपक्व हो रही थी, फिर यूँ हुआ कि दोनों का पी0सी0ओ0 पर आना बन्द हो गया। क्यों? अरे यह भी कोई पूछने की बात है टेलीफोन डायरेक्टरी के नम्बरों मे से दो नम्बरों के दिल टूट गये थे और डायरेक्टरी के बाहर दो दिल जुड़ चुके थे डायरेक्ट।

सीन–2

वह रोज़ वहाँ आता और कम से कम चार–पाँच अलग–अलग नम्बरों को डायल करता और कभी टेलीफ़ोन के दूसरी तरफ की आवाज़ सुन कर फ़ोन काट देता। कभी–कभी कुछ कहता, फिर जवाब सुन कर जीभ काट कर फ़ोन काट देता। ये ज़रा अलग टाइप का पंछी था मतलब आवारा पंछी अपने घोंसले की तलाश में। पर बन्दे में दम था लगा रहा और आख़िर एक दिन दूसरी तरफ से कुछ पॉजिटिव सिग्नल मिल गया, बस लग गया वहीं, रोज़–रोज़ का चक्कर ख़त्म। बस एक उसी नम्बर पर फ़ोन करना और प्यार में डूबना, कहते हैं न, अँधेरे में तीर मारा और लगा निशाने पर।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि कहानी का अन्त सुखद ही होगा। फ़ोन के उधर का नम्बर कुछ ज़्यादा ही अपडेट था फिर एक ही समय रोज़–रोज़ कॉल, उधर के नम्बर पर जो थी उसके घरवालों को ज़रा खटक गई। ज़रा ध्यान दिया तो कॉलर आईडी पर इधर का नम्बर मिल गया, फिर शुरू हुआ प्यार के दुश्मनों का खेल। सब पता कर लिया और लगा दी फ़ील्डिंग पी0सी0ओ0 के आस–पास। फिर अपने हीरो की कैसी मरम्मत हुई पूछो मत। जहाँ तक मुझे याद है उस दिन से कहानी लिखने तक कई बदलाव आये दुनिया में पर एक चीज़ नहीं बदली वह यह कि अपने हीरो ने फ़ोन तो फ़ोन, मोबाइल पर भी किसी को फ़ोन नहीं किया, यहाँ तक कि अपनी अरेंज मैरिज वाली पत्नी को भी, बस कॉल रिसीव करता है तो भी ज़रा डर–डर के।

सीन–3

यह तीसरा सीन ज़रा ग़ज़ब वाला है, मतलब कि वह जिस पी0सी0ओ0 से अपनी गर्लफ्रेंन्ड को फ़ोन करने आता उस पी0सी0ओ0 के मालिक की बगल में ही परचून की दुकान थी। कमाई बढ़ाने की गरज़ से उन्होंने पी0सी0ओ0 खोल लिया था, दोनों काम एक साथ चलने लगे। फिर आई मई–जून की गर्मियों की छुट्टियाँ और कहानी ने जन्म ले लिया। हुआ

यूँ कि गर्मी की छुट्टियों के कारण पी0सी0ओ0 वाले भाई साहब की बेटी जो ग्रेजुएशन के पेपर से फ़ारिग हुई थी। उन्होंने हाथ बँटाने की गरज़ से पी0सी0ओ0 पर बैठा दिया। वह सुबह पी0सी0ओ0 पर आ जाती और शाम के बाद ही जा पाती। पहले उसे यह सब उबाऊ लगता पर धीरे–धीरे अच्छा लगने लगा अब वह ख़ुद ही बिना कहे आ जाती और बिना कहे न जाती। कारण बस वही प्यार की कहानी। नहीं समझे, अरे भाई वह आता तो था किसी और को फ़ोन करने पर आँख लड़ गई इधर। अब वह फ़ोन करने में कम दिलचस्पी लेता बल्कि इस हिसाब से आता कि उसका नम्बर देर से आये ताकि वह उसके साथ नजरें चार कर सके। और इस कहानी का परिणाम भी ग्रेजुऐशन के रिज़ल्ट के साथ ही आ गया, मतलब चिड़िया फुर्र, दूर खुले आसमान में, अब यह मत पूछना घोंसला कहाँ बनाया दोनों ने वरना पी0सी0ओ0 वाले भाई साहब मुझे फाँसी पर लटका देंगे।

—o—

प्रतिशोध

आज किसनू बहुत ख़ुश था उसका प्रतिशोध जो पूरा हो गया था। कल तो उसे साँस लेने की फ़ुर्सत नहीं थी पर आज जब मंगला विदा हो कर अपने घर चली गई। पड़ोसी और बाक़ी परिचित भी चले गये, सूना घर, किसनू और उसकी पत्नी ही बचे। अपनी आँखों को बन्द कर किसनू अपने अतीत को देखने लगा। एक गाँव में उसका छोटा सा घर, पत्नी और एक प्यारी सी बेटी। किसनू था तो किसान, पढ़ा–लिखा थोड़ा कम था लेकिन संस्कार ज्ञान के मोहताज नहीं होते, न ही अमीरी और ग़रीबी देखते हैं। उन्हीं संस्कारों का नतीजा था जो किसनू और उसकी पत्नी ने यह निर्णय लिया कि सन्तान के रूप में उन्हें अब किसी बेटे की लालसा नहीं करनी है। अपनी बेटी को ही ख़ूब पढ़ायेंगे और अच्छे से उसका पालन–पोषण करेंगे। वो तीनों अपनी ही दुनिया में मस्त थे। सबसे अच्छे से बात करना, सबसे मिलजुल कर रहना, यही कारण था कि गाँव में कोई उसका विरोधी नहीं था। वह स्वयं भी सबका भला ही चाहता, उनके सुख–दुःख में उनके साथ खड़ा रहता। कुल मिला कर एक आदर्श परिवार, एक सुखी परिवार जिसे कहा जाता है वह सब था इस परिवार के पास। जो था उससे संतुष्ट, अत्यधिक की लालसा नहीं थी और अपनी बेटी मंगला में तो जैसे दोनों पति–पत्नी की जान बसती थी। वह थी भी बड़ी प्यारी, भोली, मासूम, पढ़ने–लिखने में बहुत ही होशियार। सहज बुद्धि के उसके माँ–बाप को यही लगता, जैसे हर माँ–बाप को लगता है जब उनका बच्चा अपनी तोतली ज़बान में पढ़ाये गये पाठ को माँ–बाप के सामने दोहराता है। मंगला जल्दी ही सबसे घुल–मिल जाती और कोई

भी शख़्स ऐसा नहीं होता जिसे उसकी मासूमियत पर प्यार न आ जाता हो।

ज़िन्दगी ख़ुशहाली में धीरे–धीरे आगे बढ़ रही थी पर ज़िन्दगी अगर इतने आराम से कट जाए तो उसे ज़िन्दगी कहाँ कहते हैं? अगर चारो तरफ़ हमेशा ख़ुशियाँ डेरा डाले रहें तब तो ये दुनिया स्वर्ग हो जायेगी, लेकिन दुनिया तो दुनिया है, इसके अपने तौर–तरीक़े हैं और क्षणभंगुरता तो इसकी पहचान है, न ख़ुशी ठहरती है न ग़म। जैसा भी समय हो कट ही जाता है, समय की बस यही ख़ासियत है।

वैसे तो किसनू का सभी से व्यवहार था पर शौक़त अली से उसकी पहचान मात्र परिचय तक सीमित नहीं थी बल्कि मित्रता में पगी हुई थी। सच है, मित्रता धर्म या जाति की मोहताज नहीं होती, वह तो बस दिल में उतर जाती है और बस जाती है एक एहसास बन कर। वह दोनों इसी हसीं डोर में बँधे थे, बस शौक़त अली में एक ही ऐब था कभी–कभार छुप–छुपा कर शराब पीने का। कभी तो किसनू उसे ख़ुद समझाता और कभी शौक़त अली की बेग़म साहिबा के शिकायत करने पर कि, ''समझा लीजिये अपने दोस्त को, ज़हर पीना छोड़ दें''। किसनू हर तरह से उसे समझाता कि, ''क्या कमी है तेरे पास, फिर क्यों यह एक ऐब पाल रखा है जो न दुनियादारी के हिसाब से सही है और न तुम्हारे मज़हबी उसूलों के हिसाब से''। शौक़त अली हर बार क़सम खाता लेकिन हर बार जब तलब चढ़ती तो सारे वादे सारी क़समें उस तलब के सैलाब में बह जाते।

जब एक दिन शौक़त ने बेतहाशा ख़ुशी में किसनू को गले लग कर बताया कि वो भी बाप बनने वाला है तो किसनू बहुत ख़ुश हुआ और तुरन्त मंगला की माँ से गुड़ मँगा कर शौक़त अली का मुँह मीठा कराया और हिदायत भी दी कि, ''अब कभी भी शराब को हाथ मत लगाना, क्योंकि बाप होना बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है और आने वाले बच्चे के भविष्य के लिये शराब छोड़ दो''। शौक़त अली नज़र झुकाए हाँ, हूँ कर रह गया। शौक़त

अली की बीवी को चार माह से ऊपर का समय हो गया तो वह जतकी के लिये अपने मायके चली गई और शौक़त यहाँ अपनी माँ के साथ रह गया। अब वो अक़्सर शराब पीने लगा, किसनू मना करता तो शौक़त कह देता कि एक बार बीवी और बच्चा आ जायें तो शराब को कभी हाथ नहीं लगाऊँगा, तब तक पी लेने दो।

दिन यूँ ही गुज़र रहे थे। किसनू एक बार किसी काम से शहर गया हुआ था, वापसी में रात हो जाएगी ये निश्चित था। मंगला रोज़ की तरह स्कूल से लौट कर खिलौनों से साथ लगी थी फिर शाम होते ही गाँव के और बच्चों के साथ खेलने के लिए निकल गई। आख़िर यही तो उम्र होती है फिर तो लड़कियाँ चूल्हे–चौके में व्यस्त हो जाती हैं। यही सोच कर मंगला की माँ उसे ज़्यादा रोकती–टोकती नहीं थी, फिर अभी उसकी उम्र ही क्या थी कुल जमा सात वर्ष। रोज़ की तरह शाम ढलने लगी और अँधियारा बढ़ने को हुआ परन्तु मंगला अभी भी नहीं लौटी थी। कुछ देर तो मंगला की माँ इन्तज़ार करती रही फिर उसे चिन्ता होने लगी। वह पास–पड़ोस में मंगला को ढूँढने लगी, पर मंगला का कहीं अता–पता नहीं था। अँधेरा घना होता जा रहा था और उससे ज़्यादा घनी होती जा रही थीं चिन्ताएँ। आस–पास के लोग भी मंगला की माँ के साथ मंगला को ढूँढ रहे थे और उसे ढाढस बँधाते जा रहे थे। हालाँकि वो जानते थे कि ऐसे में कोई चिन्ता कैसे न करे।

उधर दिन ढले जब शौक़त ठेके से वापस आ रहा था, उसने देखा मंगला खेत से गाँव की तरफ़ अकेली ही जा रही है। ज्यों ही मंगला की नज़र शौक़त पर पड़ी वह दौड़ कर शौक़त के पास आ गई और चाचा–चाचा ! कह कर हमेशा की तरह बातें करने लगी। शौक़त ने उसे उठा कर साइकिल पर बैठाया और उसकी बातें सुनते हुये किसनू के घर की तरफ़ बढ़ चला। मंगला अपने स्कूल की, अपने खिलौनों की, अपनी सहेलियों की, न जाने क्या–क्या बातें करती जा रही थी। शौक़त हाँ, हूँ करता जा रहा था, उसका दिमाग़ किसी उहापोह में था। उसकी आँखों

का रंग कुछ बदला सा था, पता नहीं शराब का नशा था या कुछ और। उसकी नज़रे कुछ बहकी–बहकी सी थीं। अचानक ही शौक़त का चेहरा कुछ कठोर सा हुआ जैसे किसी ठोस निर्णय पर जा पहुँचा हो। मंगला समझ भी न पाई कब शौक़त ने अपनी साईकिल गाँव के बाहर जंगल की तरफ़ बढ़ा दी थी। वैसे भी इतना सोचने की मंगला को ज़रूरत ही क्या थी वह तो अपने प्यारे शौक़त चाचा के साथ थी। कहाँ समझ पाई थी वह कि जिसे वो चाचा समझ रही है वह कुछ ही पलों में हैवान का रूप ले चुका है, वह मासूम हिरनी सी उस वहशी जानवर के आस–पास चौकड़ी भर रही है, इससे बेख़बर कि नियति ने आज उसकी क़िस्मत में क़यामत लिख दी है।

जंगल के अन्दर घुसते ही शौक़त ने साईकिल रोक दी, तब मंगला ने चारो तरफ़ नज़र डाली और पूछा, ''चाचा, यह कौन सी जगह है, यहाँ कुछ काम है तुम्हें ? घर चलो, माँ डाँटेगी मुझे। बाबा भी शहर से आते होंगे नई गुड़िया लाएँगे मुझे खेलनी है। चाचा! जल्दी चलो न।'' शौक़त ने उसे घूर कर देखा और साईकिल से उठा कर पास ही ज़मीन पर पटक दिया। मंगला दर्द से बिलबिला गयी और उसकी आँखों ने जब शौक़त को इस तरह देखा तो दहशत से काँप उठी। वह समझ नहीं पाई कि यह क्या हो रहा है ? उसने ऐसी क्या ग़लती कर दी है जो चाचा ने उसे मारा। माँ ने उसे गोद में ले कर सुलाया था, पिता ने भी प्यार से सहलाया था लेकिन चाचा उसे इस तरह ज़मीन पर गिरा कर, दबा कर क्यूँ सुलाना चाहते हैं? वह जब तक इस पैशाचिक प्रवृत्ति को समझती, शौक़त ने उसे गिरा कर उसके कपड़े फाड़ने शुरू कर दिए। चिल्लाने पर थप्पड़ मारने लगा, मंगला की चीख़ें उसके गले में घुट कर सिसकियों में बदलती चली गईं। उधर शौक़त के हाथ कभी रूक जाते, शायद ज़मीर पुकारने लगता, इंसानियत आवाज़ देने लगती, दोस्ती हाथ थाम लेती लेकिन अगले ही पल बुराई इन अच्छाइयों पर हावी हो जाती और कुतर्क बलवान होने लगता। शौक़त रुक–रुक कर बढ़ता रहा, बढ़ता रहा। इस बार जो दर्द उठा तो मंगला

चाह कर भी अपनी चीख़ नहीं रोक पाई, दर्द डर की सीमा को पार कर गया। वह मासूम अंजान थी इस हैवानियत से, उसने तो वात्सल्य, ममता भरे स्पर्श, स्नेह को ही पहचाना था। उसकी सुकोमल देह न तो शौक़त के भरे–पूरे देह को झेल पाने में सक्षम थी और न ही उसमें इतनी ताक़त थी कि वह शौक़त को धकेल कर अपने से दूर कर पाती। देह जगह–जगह से लहुलुहान हो चुकी थी, आत्मा छलनी हो चुकी थी। असहनीय पीड़ा, जिन नन्हें–नन्हें पाँवों से वह भागती–फिरती थी, उन्हें उठाना भी उसके लिये असम्भव हो रहा था और वह राक्षस, अपने कुकृत्य को अंजाम तक पहुँचाने के बाद धीरे–धीरे इंसान बनने लगा। उसका नशा उतर चुका था और उसे समझ आया कि उसके हाथों कितना बड़ा पाप हो चुका है। कभी–कभी कोई पाप छुपाने के लिए प्रायश्चित का सहारा लेता है तो कोई एक और पाप करके, उस पाप पर पर्दा डालता है। अब शौक़त के पास एक ही रास्ता था कि मंगला को मार डाले, नही ंतो वह मुँह दिखाने के क़ाबिल नहीं रहेगा। मंगला ने अपने जीवन का अन्तिम कठोर स्पर्श अपने सर पर महसूस किया और वह स्पर्श इतना घातक था कि वह कोई प्रतिक्रिया भी नहीं कर पाई। आँखें अब भी खुली थी परन्तु उनमें सपने नहीं थे, एक दर्द था, ठहरा हुआ।

देर रात किसनू घर लौटा तो अपने घर के बाहर गाँव के लोगों को जमा देख किसी अनहोनी की आशंका से दौड़ता हुआ अपने दरवाज़े पर पहुँचा और जो देखा उसने, उस दृश्य ने उसकी दुनिया ही वीरान कर दी। जिसे हँसता–बोलता छोड़ कर गया था वह ख़ून से लथपथ उसके सामने निर्जीव पड़ी थी और उससे भी ज़्यादा डरावना, भयावह था वह घिनौना सच जो बता रहा था कि मरने से पहले मंगला किस यातना से गुज़री थी। मंगला को तो वह गाँव वालों की मदद से नदी की धारा में बहा आया पर अपने काँधों पर अपनी ही लाश ले कर उसकी ज़िन्दगी, बद से बदतर हो गई।

वक़्त सबसे बड़ा मरहम होता है, बीतते समय के साथ वह ज़रा संयत

तो हुआ परन्तु मन में कई सवालों के साथ–साथ एक आग भी थी, प्रतिशोध की आग। मगर प्रतिशोध ले तो किससे, कौन था मंगला का दोषी? जितना किसनू सोचता उतना ही अँधेरे की खाई में गहरे और गहरे गिरता जाता। हर बार उस खाई से निकलने के लिए चीख़ पड़ता। किसनू की ऐसी हालत देख कर उसकी पत्नी अपनी बेटी का ग़म भूल कर उसे ही सम्हालने लगती, समझाने लगती। तीन माह बीत गये, किसनू का घर खण्डहर सा साँय–साँय करता। वह अन्मयस्क सा पूरे दिन घर में पड़ा, अपने हाथ में मंगला के लिये लाई गुड़िया को थामे देखता रहता।

शौक़त अपनी पत्नी और दुधमुँही बच्ची को लेकर गाँव लौट आया। उसे जब गाँव में मंगला की ख़बर मिली तो उसने ऐसा जताया जैसे उसे बहुत सदमा पहुँचा हो और वह तुरन्त किसनू के घर पहुँच गया। किसनू उससे लिपट कर फूट–फूट कर रोने लगा, शौक़त उसकी पीठ सहला कर उसे सांत्वना देता रहा। वह समझ गया कि वह कहीं से भी, किसी के शक़ के घेरे में नहीं आया है, उसके होठों पर एक कुटिल मुस्कान आ कर चली गई। परन्तु यह इन्सान का कृत्य था अभी कुदरत का अपना काम किया जाना बाक़ी था। किसी घर में बेटी का जन्म सौभाग्य से कम नहीं होता परन्तु शौक़त अली के लिए बात सामान्य नहीं रह गई थी। जब–जब वह अपनी बेटी के पास जाता, उसे गोद में उठाता तो एक अजीब सा डर, जाने कैसा, जाने किसका, उसे घेरने लगता। वह जब भी अपनी पत्नी के पास जाना चाहता तो अँधेरे में भी उसकी आँखों के सामने मंगला का ख़ून से सना चेहरा आ जाता। वह घबरा जाता और सारी वासनाएँ, सारी कामनाएँ भूल कर, खुद से और दूसरों से भागने की कोशिश करता। लेकिन जितनी तेजी से भागता, यादें उतनी ही तेजी से उसका पीछा करने लगतीं। धीरे–धीरे शौक़त अली का मानसिक संतुलन बिगड़ने लगा और कुछ ख़ास पलों में उसके ऊपर हैवानियत सी छाने लगती। उन्हीं हैवानियत के पलों में मंगला को दुबारा मारने की कोशिश में उसने अपनी ही बीवी का गला घोंट

दिया। शौक़त जब तक कुछ समझता उसकी बीवी निर्जीव हो कर उसके हाथों में झूल चुकी थी। उसकी दुधमुँही बेटी अपनी माँ के शरीर से लिपट, रोते हुए कुछ ढूँढ रही थी और शौक़त में इतनी भी हिम्मत नहीं थी कि वह उसे गोद ले पाता। कमरे से आती बच्ची की आवाज़ से जगी शौक़त की माँ जब कमरे में आई तो वहाँ का नज़ारा देखकर अपने होश–हवास खो बैठी। अपने कमज़ोर हाथों से शौक़त को मारते, धकियाते हुए बार–बार यही पूछती, ''ये क्या किया तूने ?'' शौक़त बदहवासी में पागलों की तरह एक ही बात कह रहा था, ''मंगला, मुझे माफ़ कर दे।'' यह दूसरी ख़बर थी जिसने उसकी माँ को बिना कहे ही सब समझा दिया। सारे पड़ोसी इकट्ठा हो गए। पुलिस आई और शौक़त को मंगला और अपनी बीवी के क़त्ल के इल्ज़ाम में गिरतार कर ले गई। कोर्ट में उसकी मानसिक स्थिति को देख कर उसे पागलख़ाने भेज दिया गया।

किसनू पर तो पहाड़ टूट गया कि उसकी मंगला के साथ यह सब करने वाला और कोई नहीं उसका ही दोस्त था। हालाँकि ऊपरवाले ने उसे इसकी बहुत बड़ी सज़ा दे दी लेकिन दिल को तसल्ली देने के लिए यह काफ़ी नहीं था। शौक़त की माँ इस ग़म के साथ अपने आप को बहुत दिनों तक ज़िन्दा रख पाने के क़ाबिल नहीं थी। जब उसे लगा कि अब मौत पास है तो उसने न मालूम किस भरोसे पर या किस सोच में किसनू को बुलवाया और शौक़त की दुधमुँही बच्ची को मंगला का हवाला दे कर किसनू की तरफ़ बढ़ा दिया। कहाँ तो किसनू प्रतिशोध लेना चाहता था और कहाँ अपनी बेटी के हत्यारे के बेटी को पालने की ज़िम्मेदारी उसके सामने आ गई । किसनू के मन ने कहा, ''प्रतिशोध का यह सुनहरा अवसर है, मेरी बेटी के क़ातिल की बेटी ख़ुद ही मुझे मिल जा रही है। शौक़त न सही, उसकी बेटी के साथ वही कर जो उसने मंगला के साथ किया था। मन को शान्ति मिलेगी।''

मगर उसने जैसे ही बच्ची को गोद में लिया, उसे लगा कि मंगला दूसरा जन्म लेकर फिर उसके पास आ गई है। अपने क़ातिल को सज़ा

देकर अपने माँ–बाप के पास लौट आई है। किसनू बिना कुछ पूछे, बिना कुछ कहे, उसे लेकर अपने घर आ गया। प्रतिशोध अपना स्वरूप बदल चुका था, वह रचनात्मक हो उठा था। किसनू ने बच्ची का नाम मंगला रखा और उसे उसी तरह पाला जैसे कभी अपनी मंगला को पाला था।

मंगला की शादी के मण्डप पर बने हवन–कुण्ड में किसनू का प्रतिशोध भी जल कर स्वाहा हो गया। भीगती आँखों से उसने मंगला को विदा किया। उसका मन अब शान्त था, उसका प्रतिशोध पूरा हो गया था।

—o—

चवन्नी

यह तो पता नहीं कि वह ऐसा क्यों था, यह भी नहीं कि वह ऐसा कब से था। उसे किस वजह से उन दो शब्दों से चिढ़ थी या तो वह जानता था या स्वयं परमात्मा। ख़ैर, हमारी उम्र नहीं थी इतना गम्भीर चिंतन करने की। हम सब तो बस आस–पास कोई न कोई खेल ढूँढा करते थे। खेल क्या है, कैसा है ? बिना इसे जाने बस मज़ा आना चाहिए था। भले ही हमारे मज़े के कारण किसी को दर्द ही क्यों न हो, इतनी समझ भी नहीं थी हमें उस उम्र में।

वह था भी अजीब नमूना, रहन–सहन से भी और अपनी आदतों से भी। न कोई घर न कोई गृहस्थी का सामान। एक रिक्शा था उसके पास और रिक्शे की सीट के नीचे की जगह में ही उसकी ज़रूरत की सभी चीज़ें रहती थीं। मसलन एक कम्बल, एक छोटी सी घड़ी और एक काँच की बोतल। इन सब चीज़ों में बोतल की महत्ता बहुत थी। उसके लिए, वह बोतल थी भी कमण्डल के जैसी, न टूटती, न फूटती। बोतल की गरदन पर एक डोरी बंधी रहती उसे साधने के लिए। उसी डोरी के बल पर वह उस नमूने की उँगलियों में टँगी रहती थी। उस नमूने का वास्तविक नाम शायद ही किसी को पता था, सब उसे चवन्नी ही कह कर बुलाते थे। हालाँकि चिढ़ने वाले दो शब्दों में से एक शब्द यह भी था। पर चवन्नी समझ जाता था कि इस शब्द का प्रयोग उसे बुलाने के लिए किया है या चिढ़ाने के लिए, उसी हिसाब से उसकी प्रतिक्रिया भी होती थी। कुल मिला कर जब तक सम्बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाए, उसे चाहे अनचाहे रूप से यह नाम स्वीकार था।

चवन्नी का क़द नाटा था रंग बताया नहीं जा सकता क्योंकि वह तब पता चलता जब वह साफ़ सुथरा होता। हाँ, कभी–कभी बारिश में भीग जाता तो शरीर के खुले भागों में कहीं गहरा काला और कहीं साँवलापन दिखता, स्पष्ट कभी नहीं पता चला। कपड़े न जाने किस धागे से बने थे कि उन्हें कभी जीर्ण–शीर्ण होते नहीं देखा, बस एक जोड़ी, उनका भी वास्तविक रंग शायद ही कोई बता सके।

चवन्नी सुबह उठ कर अपनी बोतल में पानी भरता, अपनी नित्य क्रियाओं से निवृत्त होने में बोतल का हर तरह से उपयोग करता। फिर सुबह का नाश्ता किसी टपरी में कर के अपना रिक्शा निकालता, शाम को उसी बोतल में देशी दारू भर लाता, चढ़ा कर बड़बड़ाते हुए अपना खाना बनाता, खाता, फिर दुनिया जहान को गाली देते हुए सो जाता।

वह दूसरा शब्द जिससे चवन्नी चिढ़ता था वह था कौवे का काँव–काँव, इसमें से काँव–काँव से चिढ़ता था या कौवे से, यह कभी पता नहीं चला। लेकिन चिढ़ता बहुत था और कहने वाले की सात पुश्तों को तार देता था। एक बार हम सब चौराहे पर खड़े गप्प लड़ा रहे थे इतने में देखा कि चवन्नी किसी सवारी को अपने रिक्शे पर बिठाए चला आ रहा है। रिक्शे पर लदा सामान बता रहा था कि वह इस व्यक्ति को सीधा रेलवे स्टेशन से लेकर आ रहा है। साथ के लड़कों को मख़ौल सूझा तो एक ने चिल्ला कर पूछ लिया, ''अबे, एक रूपये की चार चवन्नी हैं क्या?'' बस इतने पर ही बवाल हो गया। चवन्नी ने गाली देते हुए रिक्शा रोका और सड़क किनारे से एक ईंट का टुकड़ा उठा कर उस ओर फेंका जिधर से आवाज़ आई थी। लेकिन सब सचेत थे तो हट कर बच गए और जिसने आवाज़ दी थी वह चवन्नी की विपरीत दिशा की ओर भागा। रिक्शे पर बैठे शख़्स की समझ में नहीं आ रहा था कि आख़िर हो क्या रहा है, क्यों हो रहा है? लेकिन चवन्नी ने तुरन्त रिक्शा उस ओर ही मोड़ दिया जिधर वह लड़का भागा था। सवारी ने रिक्शे को वापस मुड़ता देख उससे उतरने की कोशिश की तो चवन्नी ने तुरन्त दूसरा पत्थर उठा कर उसी की ओर तान

दिया, ''बइठे रहेल चुप्पे चाप, न ते मारब गुम्मा तो खोपड़िया फाड़ देबो।''

चवन्नी का यह रूप देख कर वह शख़्स सहम गया, उसे देख कर ऐसा लगा जैसे दिन–दहाड़े उसका अपहरण हो रहा है। ख़ैर, थोड़ी देर गलियों के चक्कर लगाने के बाद शायद चवन्नी ने उस सवारी को गंतव्य तक पहुँचा दिया हो या यह भी हो सकता है कि कहीं बीच में उतार दिया हो, उसका कोई भरोसा नहीं था।

ऐसे ही एक बार पन्द्रह अगस्त का दिन था, दोपहर का समय, सड़क पर लगभग सन्नाटा था, कुछ लोग क्रिकेट खेल रहे थे तो कुछ पतंग उड़ा रहे थे, हम सब भी एक कोना पकड़े बतिया रहे थे। सबने देखा चवन्नी अपना रिक्शा लिए मस्ती में चला आ रहा है। छुट्टी का दिन था हम सब उकता रहे थे, उसे देखा तो आँखों में एक चमक आ गई। मोहल्ले में ही एक नेता जी रहते थे, पी.सी.ओ चलाते थे, सारी मार्केट बन्द थी पर उनका पी.सी.ओ खुला था। जब देखो बड़ी–बड़ी हाँका करते थे। जैसे ही चवन्नी अपना रिक्शा ले कर हमारे पास आया हम सबने थोड़ी गम्भीरता से इशारे में उसे बुलाया। वैसे तो चवन्नी जानता था कि यह सब हमेशा उसका मज़ाक उड़ाते हैं, पर जब उसने देखा कि हमारे चेहरे पर शरारत का कोई चिन्ह नहीं है तो चला आया। हममें से एक ने उससे पूछा, ''क्यों तुम्हें भी मिला कि नहीं।''

वह बोला, ''क्या?''

''लड्डू और कम्बल''

''नहीं तो,'' चवन्नी लगभग हड़बड़ाते हुए बोला।

''कौन दे रहा है ?'' फिर चवन्नी ने पूछा।

''अरे वह सामने वाले नेता जी ही तो दे रहे हैं, आज पन्द्रह अगस्त है न इसलिए। लेकिन बड़ी ग़लत बात है इधर–उधर के लोग ले गए और तुम तो मुहल्ले के हो तुम्हें नहीं दिया, जाओ माँगो जा कर, तुम्हें तो मिलना ही चाहिए।

चवन्नी ने तुरन्त अपना रिक्शा किनारे लगाया और पी.सी.ओ की तरफ बढ़ गया, देखा तो नेता जी अन्दर बैठे हैं, उसने खटखटाया तो ग्लास के दरवाजे के उस पार से नेता जी ने अन्दर बुला लिया। अन्दर क्या बात हुई पता नहीं है पर पाँच मिनट से भी कम समय के अन्दर चवन्नी भनभनाता हुआ बाहर आया और गालियाँ देते हुए सड़क से एक पत्थर उठा कर पी.सी.ओ की तरफ ताना। हमने देखा कि पहले नेता जी आक्रामक मुद्रा में थे फिर उसे समझाने की प्रक्रिया में आये और फिर बीस–तीस रुपए उसे दे कर समझौता कर उन्होंने सुकून की साँस ली। पैसे ले कर चवन्नी बड़बड़ाते हुए हमारी तरफ आया और हम सब को संतुष्टि की नज़र से देखता हुआ नेता जी को गरियाता हुआ अपना रिक्शा उठा कर चला गया। नेता जी अब भी पी.सी.ओ के दरवाज़े पर खड़े थे वह मुतमईन होना चाहते थे कि चवन्नी चला गया या नहीं। यह देखकर हम सब एक साथ हँस पड़े, नेता जी सब समझ कर कुढ़ गए और रह–रह कर उस तीस रुपये का अफ़सोस मनाते हमें गाली देते अपने पी.सी.ओ. के अन्दर चले गए।

कह नहीं सकता चवन्नी कहाँ होगा, होगा भी या नहीं लेकिन अचानक वह दिखाई देना बन्द हो गया। फिर कुछ दिनों बाद पता चला कि वह अब नहीं रहा। इतने वर्षों बाद जब चवन्नी शब्द का भी अस्तित्व ख़त्म हो चुका है, न तो उसका कोई मूल्य रह गया न चलन में रह गई चवन्नी। बस अचानक उसकी याद आ गई वह महत्वहीन हो सकता है पर मेरे साथ का शायद ही कोई मित्र होगा जिसे चवन्नी की याद न हो, कारण चाहे कोई भी हो। वह ऐसा समय था जब हम अपने आस–पास की हर घटना, हर शख़्स पर ध्यान देते थे, वह भी बिना गूगल, इंटरनेट और मोबाइल के। तब छवियाँ अपनी अमिट छाप ले कर हृदय पर अंकित हो जाती थीं, अब मोबाइल में क़ैद होती हैं और हृदय की बजाय गूगल में सेव हो जाती हैं, जिन्हें शायद ही हम कभी देख पाते हैं।

—o—

लैम्प पोस्ट

जैसे सरहद पर जवानों की पोस्ट हुआ करती है वैसे ही कभी शहरों में रोशनी के लैम्प पोस्ट हुआ करते थे। ये तब की बात है जब बिजली इतनी प्रचलित नहीं थी, न इतना उत्पादन था कि रास्तों पर रौशनी हो सके, उस वक़्त रास्तों के लिए यही लैम्प पोस्ट थे। उन्हीं में से मैं भी एक था, अरे था क्या अभी तक हूँ। अपने पूरे कुनबे में अकेला। कभी–कभी लगता था कि शायद मुझे पुराने समय की यादों को सँजोने के लिए बचा कर रखा गया है, स्मारक की तरह। वह तो बाद में समझ आया कि मुझ पर किसी का ध्यान ही नहीं गया, वरना मैं क्या मेरा इतिहास क्या। ख़ैर, अपनी पीढ़ी के साथ अगर मैं भी ख़त्म हो जाता तो ख़ुद को आपसे परिचित कैसे करा पाता। यह अलग बात है कि अब मेरा कोई उपयोग नहीं रहा। मेरे अन्दर से रौशनी का निकलना तो दूर मेरे अन्दर दिन के उजाले में भी घना अँधेरा बस गया था। नहीं–नहीं किसी की ऐसी मंशा नहीं थी बस समय की गर्द मुझ पर तह दर तह चढ़ती गई, इतनी कि अँधेरा मुझमें कहीं क़ैद हो कर रह गया।

पहले मैं इस जगह की शान हुआ करता था। कितने ही लोगों के पैदा होने, उनके जवान होने, कितनों की शादी, उनके बच्चों का होना, ऐसी कितनी ही बातों का मैं साक्षी हूँ। वो और ही लोग थे जो अपनी जगह से लगाव महसूस करते थे। उनके बाद की पीढ़ियों ने बस अपने बारे में सोचा और इसी वजह से बदलते समय के साथ–साथ मेरे आस–पास के लोग

बदलते गये। कुछ ही परिवार हैं जो पीढ़ियों से यहाँ हैं। वह सामने जो बड़ी सी इमारत देख रहे हैं न, वहाँ कभी इलाक़े की सबसे मशहूर कोठी हुआ करती थी। लाला हरचन्द राय शहर के जाने–माने रईस़ थे, उनका व्यापार कई शहरों में फैला हुआ था। ऊपर वाले ने उन्हें धन–दौलत तो दी ही थी, नेक नीयती भी दी थी। आस–पास की बस्तियों में ऐसा कौन शख़्स था जिसने उनसे कभी मदद न ली हो और उन्होंने जिसकी मदद की न हो। बँटवारे के समय दंगों में उनके इकलौते बेटे को दंगाइयों ने मार दिया, और लाला हरचन्द राय कुछ न कर सके। इस ग़म ने उनकी पत्नी की जान ले ली और कुछ समय बाद ख़ुद लाला जी भी स्वर्ग सिधार गये। उनके आँखें बन्द करते ही जाने कहाँ–कहाँ से आ कर उनके वारिस़ खड़े होने लगे। उनकी सारी जायदाद सारी दौलत उनकी कोठी टुकड़े–टुकड़े हो कर उनके जायज़, नाजायज़, सच्चे–झूठे वारिसों में बँट गई। फिर तो वह कोठी कई टुकड़ों में कई बार ख़रीदी गई और बेची गई और आज वहाँ बहुमंज़िली इमारत बन रही है, जिसमें लाला हरचन्द राय का कोई नाम नहीं है।

मेरे दूसरी तरफ वह जो मटमैला सा ढहा हुआ मकान दिख रहा है न, वह साबिर अली का था। साबिर अली किसी दफ़्तर में मुलाज़िम थे, बेहद शरीफ़, पाँचो वक़्त के नमाज़ी। ईद और बकरीद उनके ही कारण यहाँ मनाई जाती थी, तब हिन्दू–मुस्लिम जैसा कुछ नहीं था। लोग ग़रीब थे, अनपढ़ थे, पर इन्सान थे। वह सब मिल कर सारे त्योहारों को मनाते थे। साबिर अली का घर दिवाली के दियों से भी रौशन होता और होली की फाग भी वहीं जमती थी। समय बदला, साबिर अली के इन्तक़ाल के बाद उनके बाक़ी बेटे तो अपनी गुज़र–बसर के लिए दूसरे शहरों में चले गए मगर उनके बड़े बेटे अबरार यहीं रह गए। शायद मिट्टी की मुहब्बत ने उन्हें रोके रखा। उसके बाद उनके लड़के आलिम, ख़ालिक़ भी जो आज भी यहीं हैं। नहीं है तो अब वह दिवाली के दियों की रौनक़ें, फाग की टोली

में उनकी शिरक़त। अब वह इन्सान नहीं रहे बल्कि हिन्दू–मुसलमान हो गए हैं।

वह सामने नुक्कड़ पर जो मकान है, जिसमें खपरैल पड़ी है, गुनिया का है। पता नहीं, उसका असली नाम क्या था, परन्तु पूरे इलाके में उसके जैसा जूता–चप्पल शायद ही कोई बना पाता होगा। सब कहते बहुत गुणी है, होते–होते वह गुनिया ही हो गया। वह जो मकान के बाहर बैठी है न खाट पर, सर पर सफ़ेद बालों की गठरी लिए वह गुनिया की बहू है, यहीं दूसरे टोले से ब्याह कर आई थी, झुमकी नाम है उसका। यही कोई चौदह–पन्द्रह बरस की रही होगी वह उस समय। पूरी रात गुनिया के घर कच्ची दारू का दौर चलता रहा था। यह उसका ख़ुशी मनाने का अपना तरीक़ा था। गुनिया तो रहा नहीं, उसका लड़का भी बाद में तपेदिक की भेंट चढ़ गया, रह गई झुमकी, अपनी बेटी चमकी और बेटे लोटन के साथ। वैसे तो घर वालों ने लोटन का नाम लड्डूराम रखा था, परन्तु वह बचपन से इतना पसडू था कि ज़रा–ज़रा सी बात पर सड़क पर लोट–लोट कर ज़िद करता। उसकी इसी हरक़त की वजह से धीरे–धीरे उसका नाम लोटन पड़ गया। समय बीतता गया, इससे पहले कि झुमकी अपनी लड़की की शादी का कोई इन्तज़ाम करती, चमकी एक दिन ग़ायब हो गई, कई दिन ढूँढने के बाद पता चला कि वह अकेले ग़ायब नहीं हुई है, कोई और भी है उसके साथ। बाद में जितने मुँह उतनी बातें, कोई कहता उसे दिल्ली के कोठे पर देखा, कोई कहता बम्बई भाग गई, परन्तु सच क्या था यह तो केवल चमकी ही बता सकती थी और वह कभी लौटी ही नहीं। धीरे–धीरे लोग उसे भूल गए और भूल गए उसकी बातों को भी। शायद झुमकी न भूली हो और लोटन, उसमें अपने बाप–दादा जैसा कोई गुण नहीं था बल्कि हज़ार अवगुण थे। शायद ही ऐसा कोई ऐब होगा जो उसमें न हो। इसी वजह से आए दिन थाने में बैठा रहता। अब ऐसे को भला कौन अपनी लड़की देता, तो बिन ब्याहे निठल्ला घूमता रहता है। दया आती है तो

झुमकी पर, पति के न रहने पर उसे कभी हँसते नहीं देखा, जैसे–तैसे दूसरों के घर चौका–बर्तन कर अपना काम चला रही थी।

ऐसा नहीं कि सब ऐसे ही थे बस्ती में, कुछ थे, जो रोज़ शाम को मेरे पास आते थे, मेरे पास बैठ घण्टों पढ़ाई किया करते थे। राममूरत का लड़का तो सुना है कलक्टर हो गया। गाज़े–बाज़े के साथ, उसके कन्धों पर उठा कर पूरी बस्ती में जुलूस निकाला गया था। राममूरत खुद तो मुनीमी करते थे, उनके पिता भी उसी मिल में नौकरी किया करते थे। राममूरत ने अपने बच्चों की पढ़ाई पर पूरा ध्यान दिया। उसका बेटा और बेटी दोनों ही कलक्टर हो गए, बिटिया का ब्याह भी हो गया। राममूरत तो रहे नहीं अब, उस घर में ताला पड़ा रहता है। शायद कभी रामूरत का लड़का लौट कर आए या शायद न भी आए।

आप सोचेंगे कि मैं ये सब आप को क्यों बता रहा हूँ, आपको भला क्या मतलब लाला हरचन्द राय से, साबिर अली, झुमकी या राममूरत और उसके बेटे से। अरे साहब, हर व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति होती है और मरने से पहले वह उसकी वसीयत कर जाता है। तो जिसके पास जो है वह उसी की वसीयत करेगा न। मेरे पास सिर्फ़ यादें है, अच्छी हैं या बुरी जैसी भी है, मैं सौंप देना चाहता हूँ आपको। ताकि कभी चमकी या उसके बच्चे, राममूरत का बेटा, साबिर अली के दूसरे बेटे या कोई और भी इस वसीयतनामे को पढ़े, तो उसे पता चल सके कि मैंने सबको याद रखा। पता नहीं उन्होंने मुझे याद रखा या नहीं।

समय रहते वसीयत इसलिए भी ज़रूरी हो गई है कि बस्ती में सामने वाली बड़ी सी इमारत के मालिक को मेरा होना खटकने लगा है और इसलिए सरकारी तौर पर मेरा मुआयना भी हो चुका है। वह मुझे मेरी जड़ों से उखाड़ कर किसी संग्रहालय में रखना चाहते हैं। पागल हैं सब, उन्हें क्या पता कि मैं महज़ एक लैम्पपोस्ट नहीं हूँ, कइयों की यादों की विरासत

हूँ। यहाँ से उखड़ कर मुझमें कुछ नहीं बचेगा।

ख़ैर उन्हें इससे क्या, न वह मुझे जानते हैं न मैं उन्हें। हाँ, जिन्हें जानता हूँ उनकी बेपरवाही मुझे ज़रूर ख़लती है।

देखो, वह मुझे ले जाने आ गए हैं। मैं अपनी ख़मोश आवाज़ में उन्हें पुकार रहा हूँ, जिनकी यादों की मैं विरासत हूँ। मगर कोई मुझे नहीं सुन पा रहा है। मेरे भाग्य की विडम्बना, उन्हें मुझे हटाने के लिए कहीं दूर से आदमी नहीं लाने पड़े। पैसे की ज़रूरत ने यहीं के लोगों को मेरे विरुद्ध खड़ा कर दिया। पता नहीं हँसूँ या रोऊँ, मेरी नींव पर पहला वार आलिम का था और दूसरा लोटन का।

—o—

उद्धार

रोज़ उसी रास्ते से जाना और न चाहते हुये भी रोज़ उसका मिलना। रास्ता बदल भी लूँ तो क्या फ़र्क़ पड़ता है वह तो वहाँ मिलती थी जहाँ मुझे पहुँचना होता था।

उसे देख कर मन में दया और घृणा का एक मिला जुला भाव जिसे वितृष्णा कह सकते हैं, उपजता था। ईश्वर की सबसे सुन्दर कृति स्त्री का ऐसा विद्रूप रूप देख कर बस यही भाव आ पाता था उभर कर।

हाँ, पता था वह पागल है, उसे अपनी अवस्था का एहसास नहीं होता था, चाहे सर्दी हो गर्मी हो या बरसात, वह वैसे ही बिना कपडों के मैल की कई तहों में लिपटी विद्रूपता लिए यहाँ–वहाँ फिरती रहती, हाँ, उस जगह को उसने अपना स्थान ज़रूर बना लिया था, कभी–कभी आने जाने वालों से हाथ फैला कर अपनी मदद सी भावविहीन हँसी को चेहरे पर ला कर कुछ माँगती और कभी–कभी आस–पास के कंकड़ पत्थर उठा कर गुज़रने वालों पर मारती। कोई गाली देता, तो कोई उसकी तरफ़ हाथ उठा कर धमकाता पर मारता कोई नहीं था।

कोई नहीं जानता वह कौन थी, कहाँ से आई थी, किस धर्म की थी किस जाति की थी, शायद कभी कोई पहचान रही हो, पर अभी तो वह भारतवर्ष की एक सौ पच्चीस करोड़ की जनसंख्या का भाग नहीं थी। मतलब न उसके जीने से किसी को फ़ायदा था न उसके मरने से, न वह किसी सरकारी सहायता की हक़दार थी न अपनी बात कह सकने की। आप किसी से प्रेम करें या घृणा करें, किसी पर दया करें या कुछ और,

ये भावनाएँ उस व्यक्ति से आपको जोड़ ज़रूर देती हैं, आप आदी हो जाते हैं, तो मैं भी आदी हो गया था उसे रोज़ देखने का। कभी–कभी उसे कुछ खाने को भी दे देता था, मैं क्या मेरे साथ वहाँ पर पढ़ने वाले कई छात्र ऐसा करते थे। और वह हँसी के साथ हमारी दी हुई चीज़ों को खाने लगती, कभी–कभी फेंक कर न जाने क्या बड़बड़ाने लगती। समय के साथ हमारी भावनाओं में परिवर्तन आया मगर वह वैसी ही रही।

एक दिन देखा तो उसके शरीर पर एक गाउन पड़ा हुआ था, चेहरा भी साफ़ सुथरा था। आश्चर्य हुआ, परन्तु सुखद भी लगा। सबकी तरह मुझे भी यही लगा कि शायद किसी सामाजिक संस्था या किसी भले मानस ने उसकी दुर्दशा से द्रवित होकर ऐसा किया होगा। मन ही मन उसे धन्यवाद भी दिया कि किसी ने तो उसका उद्धार किया। संस्थान में छुट्टियाँ हो गईं थीं हम सब अपने–अपने घर चले गये। उस पगली की ऐसी कोई चिन्ता नहीं थी, पता था की आस–पास के दुकानदार उसे खाने पीने को देते रहते हैं, बाक़ी उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी। छुट्टियों के बाद वापसी फिर नई क्लास में प्रवेश और किताबों की व्यवस्था में ऐसा व्यस्त हुआ कि उस ओर ध्यान ही नहीं गया, हाँ, आते–जाते वह दिख ज़रूर जाती थी। जब कक्षायें सुचारु रूप से चलने लगीं तो पुराना रुटीन चालू हो गया, और उसे रोज़ देखने का क्रम भी। पता नहीं क्यों पर अब उसका स्वभाव कुछ बदला–बदला सा था। हमेशा कुछ थकी–थकी सी, बेचैन सी दिखती थी। पहले की तरह न तो गालियाँ देती, न किसी को कंकड़ मारती थी। न पहले की तरह खाने पीने की चीज़ों को फेंकती थी। सोचा कि शायद तबियत वग़ैरह ख़राब हो, ख़ुद ही ठीक हो जायेगी। समय थोड़ा और बीता और उसकी बेचैनी ने एक आकार लेना शुरू कर दिया। उसके पेट का उभार दिन–ब–दिन बढ़ता जाता था और अपने शरीर के अन्दर हो रही उथल–पुथल और बदलाव ने शारीरिक तौर पर ही नहीं मानसिक रूप से भी उसे बेचैन कर दिया। इतना कि एक दिन उसने अपने शरीर के ऊपर पड़े हुए उस एकमात्र कपड़े को भी फाड़ कर

अलग कर दिया और तब वह दिखा जिसकी मात्र संभावना थी, जिसके क़यास लगाये जा सकते थे परन्तु उस संभावना का सत्य होना असम्भव प्रतीत होता था। कारण वह स्वयं थी, भला कौन होगा जो उसके साथ ऐसा सम्बन्ध बनाने की सोच भी सके, न उसका चेहरा न उसका शरीर, दोनों ही ऐसा आमंत्रण देने की क्षमता नहीं रखते थे।

मगर ऐसा हुआ था क्योंकि उसके होने का प्रमाण उस पगली के पेट में पल रहा था। देखा जाए तो निर्वस्त्र वह हुई थी परन्तु नंगा सारा समाज हुआ था। हम हर आने–जाने वाले को, आस–पास वाले को शंका की दृष्टि से देखते और उसकी आँखों में जब ख़ुद के लिए शंका देखते तो सर शर्म से झुक जाता। वह पगली अब अपने शरीर के भीतर की उथल–पुथल से परिचित होने लगी थी। उसकी बेचैनी में न जाने कैसे ममता का समावेश हो गया था। वह कभी अपने पेट पर हाथ फेरती कभी बड़े ग़ौर से देखा करती। पहले की तरह इधर–उधर भागा दौड़ी नहीं करती। अगर उसका भी कोई परिवार होता या किसी का जायज़ बीज उसकी कोख में होता तो आज वह सबकी ख़ुशियों का आधार होती उसकी भी गोद भराई की रस्म होती, देखभाल होती और बड़े उसे ताक़ीद करते। लेकिन वह तो समाज की गन्दगी को अपनी कोख में भरे घूम रही थी।

आस पास के कई लोगों को लड़ते सुना कि, ''अरे पागलों को भी शरीर सुख का पता होता है तभी तो इसके साथ हुआ ऐसा, वरना चीख़ती चिल्लाती नहीं क्या ? सोचा, क्या पता वह चीख़ी हो, चिल्लाई भी हो, क्या पता कि जो उसकी चीख़ सुन कर उसे बचाने आ सकते थे उन्हीं का कुकर्म हो यह। समाज हमेशा से ग़लत चीज़ों को, ग़लत वजहों को, ग़लत सोचों को प्रश्रय देता आया था। कोई आश्चर्य नहीं था, समाज आज भी वही कर रहा था। धीरे–धीरे उसके प्रसव का समय नज़दीक आ रहा था। कई बार सोचा कि पागलख़ाने, पुलिस या सरकारी अस्पताल को फ़ोन कर के उसकी सूचना दी जाए, शायद औरों ने भी सोचा हो। पर न मैंने, न किसी और ने ही ऐसा कुछ किया। शायद वह उसके प्रसव का दिन था

वह दयनीय अवस्था में, आस–पास से गुज़रने वालों या जो भी दिखता उसे अपने पास बुलाने का इशारा करती परन्तु सब घृणा से मुँह फेर लेते। जो मुँह नहीं फेरता वह कुछ खाने का सामान उसके सामने डाल देता। पर आज वह फिर से खाने पीने का सामान उठा कर फेंक रही थी। चूँकि उसकी ऐसी अवस्था नहीं थी कि आस–पास से कंकड़ पत्थर बटोर पाती तो जो हाथ आता वह फेंक कर मार रही थी। शायद शब्दों की कम समझ के कारण वह चाह कर भी कुछ कह नहीं पा रही थी तो अजीब–अजीब सी आवाज़ें निकाल कर चीख़ चिल्ला रही थी। कभी चीज़ें फेंकती, कभी आशा भरी निगाहों से किसी को बुलाने की कोशिश कभी चीख़ती–चिल्लाती। पता नहीं यह सब उस दिन कब तक चला। अगले दिन हम जब आये तो देखा कि वह चुपचाप पड़ी हुई है, उसके मुँह पर खुली आँखों पर और शरीर के उन हिस्सों पर जिन्हें सभ्य समाज में ढक कर रखा जाता है ढेरों मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। जिन लोगों ने उसके दर्द को नहीं समझा था, जिन्होंने उसकी कोई मदद नहीं की थी, अब उन्हें चिन्ता थी उसके शव से उत्पन्न होने वाली सड़ाँध की और मैं सोच रहा था कि ये सड़ाँध तो शायद हट जायेगी। परन्तु हम सब अपने भीतर जो मानवता की लाश लिये घूम रहे हैं उसका क्या होगा, उसकी सड़ाँध कैसे मिट पायेगी ? दोषी तो मैं भी था, इस समाज की तरह क्योंकि मैं भी तो इसी समाज का हिस्सा हूँ। सदा से निर्लिप्त, देखकर भी अनदेखा कर दूसरों को दोष देने की मानसिकता लिये हुये।

—o—

मेरा शायद लौटा दो

घर्र–घर्र, घर्र–घर्र

वाईब्रेशन मोड पर लगा मोबाइल घनघना रहा था। शान्तनु हड़बड़ी में तौलिया लपेटे हुए ही बाथरूम से बाहर आ गया। देखा तो आकांक्षा की कॉल थी, जब तक शान्तनु कॉल रिसीव करता, फ़ोन की घरघराहट ख़ुद ही रूक गई। शांतनु ने री–डायल किया। पहली बेल के साथ ही फ़ोन उठ गया।

शांतनु, ''हैलो''

''हैलो, कहीं बिज़ी हो क्या ?'', आकांक्षा ने पूछा।

''नहीं, बस फ़ंक्शन में आने के लिए तैयार हो रहा था, तुम कितने बजे तक आओगी'', शांतनु बोला।

''अभी तो मुझे देर लगेगी, अभी विपुल ऑफ़िस से नहीं आये हैं, उनके आने के बाद ही हम निकलेंगे'', आकांक्षा ने बताया।

''ओ के, अरे ! मैं तो पूछना ही भूल गया, तुम फ़ोन कर रही थीं, कोई काम था ?'', शान्तनु ने पूछा।

दूसरी तरफ़ से कोई आवाज़ नहीं आई।

शांतनु ने फिर पूछा, ''आवाज़ आ रही है ? हैलो''।

''हाँ, सुन रही हूँ'', आकांक्षा ने जवाब दिया।

''बताओ कोई काम था क्या?''

''नहीं''

''फ़िर?''

''बस, ऐसे ही''

''अरे बोलो न, क्या बात है?''

''रहने दो फिर कभी, अभी तुम्हें देर हो रही रही है'', आकांक्षा ने कहा।

''तुम्हें पता है न तुम्हारे लिए मेरे पास हमेशा समय होता है'', शान्तनु ने अपनेपन से कहा।

''हाँ, जानती हूँ।''

''तो फिर बोलो, क्या बात थी?''

''पहले तुम प्रॉमिस करो, गुस्सा नहीं करोगे।''

''तुम जानती हो, गुस्सा और तुमसे? कभी नहीं''

''फिर भी, पहले तुम प्रॉमिस करो''

''ओ के, प्रॉमिस, अब बोलो''

''देखो मैं जो कह रही हूँ, पता है वो ग़लत है पर मैं कहना चाहती हूँ, तुम्हें ग़ुस्सा आए तो मुझे माफ़ कर देना लेकिन प्लीज़ किसी से कहना मत।'' आकांक्षा ने धीरे–धीरे अपनी बात कही।

''प्लीज़, जल्दी कहो, अब मुझे टेंशन हो रही है, ऐसी क्या बात है?'', शांतनु थोड़ा चिंतित होते हुए बोला।

''अरे तुम टेंशन मत लो, ऐसी भी बड़ी बात नहीं है बस एक दिल में आई हुई बात थी। मैं खुद को रोक नहीं पा रही, कई बार सोचा कि तुमसे न कहूँ पर नहीं कहूँगी तो अन्दर ही अन्दर घुटती रहूँगी, यह भी जानती हूँ कि अब कुछ नहीं हो सकता, फ़िर भी कहना चाहती हूँ। यह जानते हुए भी कि हम दोनों ही दो अलग रास्तों के मुसाफ़िर हैं, उन रास्तों पर हमारे हमसफ़र भी अलग–अलग हैं, यह भी कि हम शायद ही कभी साथ चल पायें, फिर भी मैं कहना चाहती हूँ। तुम सुन रहे हो न शांतनु ?'', थोड़ा

ठहर कर आकांक्षा ने पूछा।

''हाँ आकांक्षा, मैं सुन रहा हूँ, तुम कहती रहो।''

शायद शांतनु कुछ–कुछ समझ रहा था कि आकांक्षा क्या कहना चाहती है, फिर भी वह उसके मुँह से सुन कर मुतमईन होना चाहता था।

''मैंने कह तो दिया सब कुछ शान्तनु, क्या सच में तुम कुछ नहीं समझे ?'' आकांक्षा ने थोड़ा असमंजस में पूछा।

''कुछ–कुछ समझा हूँ मगर ठीक–ठीक समझना चाहता हूँ, तुम जानती हो न, मैं हमेशा से संकोची रहा हूँ। कभी–कभी सब समझ कर भी कुछ समझ नहीं आता, प्लीज़ तुम साफ़–साफ़ कह दो, मैं सुनना चाहता हूँ।'' शांतनु के शब्द कुछ भीगे हुए थे पता नहीं दर्द से या आँसू से। थोड़ा ठहरते हुए आकांक्षा ने कहा, ''शांतनु मैं इस जन्म के लिए तो कुछ कह नहीं सकती पर अगले जन्म में तुम्हें ही पाना चाहती हूँ। मुझे पता है तुमसे यह कहना ग़लत है, पता नहीं तुम मेरे बारे में क्या सोचोगे लेकिन मैं फिर भी यही चाहती हूँ। क्या तुम मेरी यह ख़्वाहिश समझ सकते हो, बोलो शान्तनु, प्लीज़ बोलो न।''

दूसरी तरफ़ से केवल सिसिकियाँ ही सुनाई दीं।

आकांक्षा ने पूछा, ''शान्तनु तुम रो रहे हो, क्या तुम्हें मेरी बात से दुःख पहुँचा है।''

''नहीं आकांक्षा मुझे तुम्हारी बात से दुःख नहीं पहुँचा है, बस नियति के इस खेल पर दुःखी हूँ, क्या यही बात कुछ समय पहले नहीं हो सकती थी। शायद हम दोनों एक होते आज'', शांतनु ने धीरे से कहा।

''सच शान्तनु, तुम भी मुझसे प्यार करते हो ?''

''हाँ करता हूँ, बहुत पहले से करता हूँ।''

''तो तुमने कभी कहा क्यों नहीं ?''

''क्या कहता, कैसे कहता ? हमेशा तुम्हारी केयर करता था, तुम्हारी हर ख़्वाहिश को अपना समझता था, तुम्हारी हर बात को पूरा करता था। मुझे लगता था प्यार में बोलने की नहीं महसूस करने की ज़रूरत होती है और तुम मेरे प्यार को समझती हो तभी तो मुझ पर इतना हक़ जताती हो। कभी सोचा ही नहीं था मुझे तुमसे यह कहना चाहिए कि मैं तुमसे प्यार करता हूँ। मुझे लगता था तुम जानती हो कि मैं तुमसे प्यार करता हूँ तभी तो मुझ पर इतना विश्वास करती हो। काश मुझे पता होता कि ये बात तुमसे कहनी पड़ेगी तो मैं कह देता परन्तु मेरे तो संकोची स्वभाव ने मुझे ऐसा नहीं करने दिया। लेकिन तुमने, तुमने क्यूँ नहीं समझा मेरे प्यार को आकांक्षा ?'' शान्तनु भीगी हुई आवाज़ में बोला।

आकांक्षा स्तब्ध रह गई, वह समझ नहीं पा रही थी कि इतना सरल स्वभाव का सीधा–साधा सा शान्तनु किसी से इतना प्यार भी कर सकता है। वह तो उसे निरा बुद्धू ही समझती थी तभी तो न उससे झिझकती, न शर्माती, जो चाहती माँग लेती, कह देती। मगर नहीं समझ पाई कि ये सारी ख़ासियतें बस उसके लिए ही हैं, किसी और के लिए नहीं।

''मुझे माफ़ कर दो शांतनु, मगर तुम्हें एक बार तो कहना चाहिए था मुझसे कि तुम मुझसे प्यार करते हो।''

''मान लो, मैं तुमसे कह भी देता तो क्या तुम भी मुझसे प्यार करने लगतीं ? सच कहना, दिल में झाँक कर एक बार देखो और जबाव दो। क्या तुम उस समय हाँ कह देती'', शांतनु उत्तेजना में पूछ रहा था।

आकांक्षा दो पल ठहरी फ़िर बोली, ''मैं नहीं जानती शांतनु कि मेरा जवाब क्या होता, पता नहीं तुम ने ठीक किया या ग़लत, पता नहीं ग़लती मेरी थी या तुम्हारी मगर आज का सच यही है कि मैं तुमसे प्यार करने लगी हूँ। बोलो क्या तुम अब भी मुझसे उतना ही प्यार करते हो ?''

''हाँ आकांक्षा, जितना तब था उतना ही आज, बल्कि उससे कहीं ज़्यादा क्यूँ कि तब मेरे प्यार को प्यार देने के लिए तुम नहीं थीं। मगर आज मेरे दिल को प्यार से सँवारने के लिए तुम हो, भले ही हम दोनों न मिल पाएँ, पर एक दूसरे का प्यार तो समझ सकते हैं न। इतना ही क्या कम है कि मेरे प्यार को तुम्हारा प्यार मिला, अधूरा ही मिला पर मिला तो सही।''

''अच्छा ठीक है अब तुम निकलो जल्दी, वरना देर हो जाएगी। मैं भी जल्दी आने की कोशिश करूँगी।''

''ओ के बाय, आई लव यू आकांक्षा''

''आई लव यू टू, बाय''

शांतनु तैयार होते–होते अपने अतीत में जा पहुँचा, वह और आकांक्षा फ़ैमिली फ्रेंड थे, शांतनु के पिताजी और आकांक्षा के पिताजी एक ही विभाग में होने के कारण बहुत नज़दीक थे, यही कारण था कि दोनों परिवार भी एक–दूसरे से बहुत हिले–मिले थे। दोनों हम उम्र थे, दोनों जवान थे, एक तरफ़ जहाँ आकांक्षा महत्वकांक्षी थी, शांतनु संकोची स्वभाव का था। वह मन ही मन आकांक्षा को पसन्द करता था और जाने क्यों उसे लगता था कि आकांक्षा भी उसे पसन्द करती है। यही कारण था कि उसने कभी भी खुल कर अपने प्यार का इज़हार नहीं किया। जब आकांक्षा ने एक दिन अचानक उसे बताया कि वह विपुल से प्यार करती है और दोनों शादी करना चाहते हैं, तो शांतनु का दिल टूट गया। उसने आकांक्षा को यह पता नहीं चलने दिया बल्कि आकांक्षा की इच्छा का मान रखते हुए उसने ख़ुद ही उसके मम्मी–पापा को मनाया। आकांक्षा के मम्मी–पापा भी शांतनु को बहुत मानते थे, कहीं न कहीं वह भी यही चाहते थे कि भविष्य में शांतनु और आकांक्षा की शादी कर दें। परन्तु शांतनु की बातें सुनकर उन्होंने सोचा कि शांतनु और आकांक्षा को वह जिस रिश्ते में बाँधना चाहते थे, दोनों ही उसके विपरीत मात्र अच्छे दोस्त बने रहना चाहते थे। किसी को पता भी नहीं चल पाया कि आगे बढ़कर शादी के सारे काम करने वाला

शांतनु अन्दर से कितना टूट गया है।

आकांक्षा की शादी के कुछ महीनों बाद ही घर वालों की पसन्द की लड़की से शांतनु ने भी शादी कर ली और उसे वह हर सुख दिया जो एक पत्नी को मिलना चाहिए। हाँ, आकांक्षा को कभी नहीं भूल पाया न भूल सकता था।

ज़िन्दगी यूँ ही चल रही थी कि अचानक एक दिन आकांक्षा ने शांतनु को फ़ोन कर अपने घर बुलाया। जब शांतनु पहुँचा तो आकांक्षा उसके सामने फूट–फूट कर रो पड़ी। उसने बताया कि विपुल का किसी और से भी अफ़ेयर है। शांतनु को यक़ीन ही नहीं हुआ कि ऐसा भी हो सकता है। उसने आकांक्षा को ढाढस बँधाया और हिदायत दी कि वह यह बात किसी को न बताए। इधर शांतनु ने विपुल से मिल कर जब उसे समझाया, उसे सामाजिक, पारिवारिक सम्बन्धों का हवाला दिया, तो विपुल को अपनी ग़लती का एहसास हुआ। उसने आकांक्षा से माफ़ी माँग कर दुबारा ऐसी ग़लती न करने की क़सम खाई। एक बार फिर शांतनु ने आकांक्षा के लिए अपने प्यार, अपने समर्पण को दिखाया। उसकी ज़िन्दगी को सही रास्ते पर लाने में मदद की।

कुछ ही महीने बीते थे कि आकांक्षा की बहन की शादी तय हो गई। आज उसी फ़ंक्शन में सबको पहुँचना था। शांतनु अतीत से वर्तमान में लौट आया था। जल्दी से तैयार होकर फ़ंक्शन के लिए निकल गया। इन कुछ घण्टों में ही उसकी दुनिया बदल गई थी। चेहरे पर एक अलग सी ख़ुशी थी जो न चाहते हुये भी झलक जा रही थी। फ़ंक्शन में जब आकांक्षा और विपुल पहुँचे तो सब घर वालों से ज़्यादा शांतनु उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। पहले भी वह और आकांक्षा ख़ूब बातें करते थे पर आज उनकी नज़रों में अजब ख़ुमारी थी। दोनों सबसे छुप कर एक दूसरे को देखते और यह कोशिश करते कि ज़्यादा से ज़्यादा वक़्त एक दूसरे के साथ बिता लें। पहले जब दोनों साथ होते थे तो कोई परवाह नहीं करते थे परन्तु अब न जाने क्यों उन्हें लगता कि सब उन्हें ही देख रहे हैं, जैसे सब उनके प्यारे

की बात जान गए हों। उनकी यही कोशिश रहती कि उनकी कोई हरक़त उनके प्यार की चुगली न कर दे।

अब दोनों रोज़ ही नए प्रेमी जोड़ों की तरह एक–दूसरे से फ़ोन पर घण्टों बातें करते। हमेशा एक–दूसरे से मिलने की कोशिश में रहते। वो दोनों बातें करने और मिलने का कोई भी मौक़ा गँवाना नहीं चाहते थे। यह अलग बात है कि आकांक्षा विपुल की एक ग़लती की वजह से ही शांतनु की तरफ़ बढ़ी थी। मगर शांतनु, वह तो बस अपने प्यार को प्यार मिलता देख ख़ुश था, संतुष्ट था, इससे ज़्यादा की चाह भी नहीं थी उसे। उसके लिए यही काफ़ी था कि आकांक्षा भी उसे प्यार करती है, यह भी यक़ीन था कि अगर शांतनु कह भर देता तो वह उसकी हो जाती। लेकिन दोनों ने यह निर्णय किया कि अपनी ख़ुशी के लिये कभी किसी को दुःख नहीं पहुँचाएँगें।

प्यार की एक नई परिभाषा गढ़ते हुए दोनों एक अन्जान सफ़र पर चल दिए। दोनों ही जानते थे इस सफ़र की कोई मंज़िल नहीं है फिर भी साथ चल रहे थे। प्यार होने के बाद भी अगर समझ बाक़ी रह जाए तो वह पागलपन कैसे कहलाएगा ? हाँ, इतना ज़रूर था कि दोनों का प्यार किसी ज़रूरत का मुहताज नहीं था। इसका एक कारण यह भी कि दोनों ही उम्र के उस पड़ाव पर थे जहाँ आदमी अच्छे–बुरे में भेद करना सीख लेता है इसलिए उन दोनों ने कभी भी मर्यादाओं को लाँघने की कोशिश नहीं की। निर्मल, निश्छल समर्पित प्रेम में पगे दोनों आगे बढ़ते रहे।

झील कितनी भी शान्त क्यूँ न हो, उसमें फेंका गया एक छोटा सा कंकड़ झील में हलचल पैदा कर कई लहरों को जन्म देता है। जब आकांक्षा को पता चला कि वह माँ बनने वाली है तो उसके प्यार में डूबे हुये दिमाग़ को अचानक एक झटका सा लगा। आकांक्षा जैसे सोते से जाग उठी, सुखद सपनों का आसमान बिखरने लगा और नीचे यथार्थ का कठोर धरातल दिखने लगा। न चाहते हुए भी यह ख़्याल बार–बार परेशान करने लगा कि वह क्या कर रही है, कहाँ जा रही है, इस राह की क्या

परिणति है ? बिना किसी मन्ज़िल की तलाश के आगे बढ़ते जाना। अजीब पागलपन है, क्या कहेंगे सब, अग़र कोई जान गया तो ? वह ख़ुद से ही सवाल करती और कोई जवाब न पाकर अपने में ही उलझती जाती।

फिर भी इस गहरी सोच ने उसे एक निष्कर्ष पर पहुँचा ही दिया। उसने शांतनु को फ़ोन करना बन्द कर दिया। अगर शांतनु फ़ोन करता तो वह फ़ोन ही न उठाती। वह कभी–कभी पागलों की तरह एक के बाद एक कॉल करता रहता पर आकांक्षा कोई जवाब नहीं देती। एक दो बार शांतनु ने ऐसे समय पर जब विपुल घर में होता था, विपुल को ही फ़ोन मिलाया ताकि अगर कोई बात हो गई हो तो पता चल जाए। परन्तु जब विपुल उससे सहज हो कर बात करता तो वह और असहज हो उठता। वह समझ नहीं पा रहा था कि आख़िर क्या बात हो गई जो आकांक्षा उससे बात नहीं कर रही।

न तो शांतनु का मन काम में लगता न घर में, वह अक़्सर अनमना रहने लगा। घड़ी–घड़ी अपना मोबाइल चेक करता, आकांक्षा का कोई कॉल या मैसेज तो नहीं आया, मगर न तो ऐसा होना था न हुआ। कुछ अर्से बाद पता नहीं कैसे एक दिन आकांक्षा का फ़ोन शांतनु के पास आया। शांतनु के पास हज़ारों सवाल थे मगर आकांक्षा के पास कोई जवाब न था। सारे सवालों के बाद उसने इतना कहा, ''शांतनु, जो हुआ उसे भूल जाओ। यह जो भी हुआ हमारी ग़लती थी, प्यार नहीं।''

अवाक् रह गया शान्तनु, परन्तु अभी भी उम्मीद का दामन थाम रखा था उसने। उसने पूछा, ''ऐसा क्या हो गया आकांक्षा, क्या किसी ने कुछ कहा तुमसे ? क्या मुझसे कोई ग़लती हो गई ? बोलो आकांक्षा।''

''नहीं, न किसी ने कुछ कहा है और न तुमसे कोई ग़लती ही हुई है। अगर कोई ग़लती हुई है तो मुझसे हुई है, परन्तु मैं अब अपनी ग़लती को और बढ़ाना नहीं चाहती। मैं बहक गई थी, इसलिए तुम्हारे साथ इस अन्जान सफ़र पर निकल पड़ी, बिना कुछ सोचे, बिना कुछ समझे। परन्तु जब से पता चला है मैं माँ बनने वाली हूँ, मुझे अपनी ग़लतियाँ साफ़ दिखाई

दे रही हैं। नहीं शांतनु, मैं अब और तुम्हारा साथ नहीं दे सकती, मुझे भूल जाओ हमेशा के लिए। हम बस पहले की तरह अच्छे दोस्त रहेंगे। हमारे बीच इसके अलावा कोई भी रिश्ता नहीं रहेगा।'' आकांक्षा एकदम सपाट लहजे में कहती चली गई सब। मानो उसे मुक्ति मिल गई हो, इस बन्धन से, जिसे चुन कर पछता रही थी वह।

''आकांक्षा, अगर ग़लती तुमसे हुई है तो उसकी सज़ा मुझे क्यों दे रही हो ?''

''और क्या कहा तुमने ? तुम बहक गई थीं, मेरे प्यार को यह नाम तो मत दो। तुम मेरे साथ इस सफ़र पर नहीं निकलीं बल्कि तुमने मुझे इस सफ़र में शामिल किया था। क्या मैंने कहा था तुमसे कि तुम मुझसे प्यार करो। अरे, मैंने तो तब भी नहीं कहा था जब मुझे कहना चाहिए था। सिर्फ़ तुम्हारी ख़ुशियों की ख़ातिर सर झुकाता रहा। तुम ने मेरी जगह किसी और को अपने लिए चुना, मैंने स्वीकार किया। कभी कोई शिकायत नहीं की, कभी तुमसे कुछ नहीं माँगा। जब तुमने कहा कि तुम मुझे प्यार करने लगी हो तब भी मैने सिर्फ़ तुम्हारी ख़ुशी के लिए तुम्हारे साथ चलना स्वीकार कर लिया। बिना किसी शर्त के, बिना किसी सवाल के। मगर हर बार मैं ही क्यूँ ? तुम क्यूँ नहीं आकांक्षा ? तुम्हारे बिना भी मैं तुम्हारे लिए अपने दिल में बसे प्यार के साथ ख़ुश था। फिर तुम क्यों मेरी ज़िन्दगी में वापस आईं ? इन्सान हूँ मैं कोई पत्थर नहीं। कितनी बार ठोकर लगाओगी।''

''भूल जाओ मुझे शांतनु, सब पहले की तरह ठीक हो जाएगा। मैंने भी तो भुला दिया तुम्हें, तुम भी कुछ दिनों में भूल जाओगे।''

''नहीं आकांक्षा, अब कुछ ठीक नहीं होगा, तुम मुझे भूल जाओगी मैं जानता हूँ मगर मैं तुम्हें न कभी भूल पाया न कभी भूल सकता हूँ। तुम्हारे मिलने से पहले मैं अकेला होकर भी अकेला नहीं था। तुम हिम्मत बन कर हमेशा मेरे साथ थीं, तुमने तो मुझसे मेरी आकांक्षा को छीन लिया। बोलो, क्या तुम लौटा सकती हो, वो सब, जो तुमने छीना है ?''

आकांक्षा न समझते हुए बोली, ''क्या लिया है मैंने तुम्हारा शांतनु''?

''तुम मेरी नहीं थीं तो यही सोचता था कि काश तुमसे कहा होता तो शायद तुम मेरी होतीं। और यह बात हमेशा मुझे ताक़त देती, मेरी हिम्मत बढ़ाती। परन्तु तुमने, तुमने तो मेरा वह काश भी छीन लिया। तुमने मेरी ज़िन्दगी में आकर मुझसे मेरा शायद छीन लिया। बोलो, क्या–क्या लौटा सकती हो और अगर लौटा सकती हो न तो चलो मुझे मेरा शायद लौटा दो, मेरा काश लौटा दो। शांतनु फूट–फूट कर रो रहा था।

—o—

तुम याद रहोगी

जीवन उस ठाँव है, जहाँ पर असम्भावनायें सम्भावनायें बन जाती हैं। जिन्हें सोच कर सम्बल मिलता है। उनका चला जाना मन को कमज़ोर बना देता है। स्वयं का अस्तित्व बस अपनों की यादों का पिंजरा भर लगता है, जिसे ख़ुद एक दिन किसी और के पिंजरे में क़ैद हो जाना है।

कुमुदनी दी मेरी सगी बहन नहीं थीं। ऐसा चाह कर भी कभी महसूस नहीं हुआ। सगी बहन के न रहने पर दुःख की अनुभूति की तीव्रता उतनी नहीं थी, जितनी कुमुदनी दी के न रहने पर महसूस हुई। और भी कोई है जो शायद कभी न कह पाये कि कुमुदनी दी उसके लिये क्या मायने रखती थीं।

घर में, हम चार भाई बहनों में सबसे बड़े अनिकेत भइया थे फिर बड़ी दीदी शुभा, मैं यानी अनू और फिर छोटा भाई शशांक। बड़े भइया बचपन से ही थोड़ा गम्भीर स्वभाव के थे या शायद उनका बड़प्पन बाक़ी भाई बहनों के साथ उन्हें खुलने ही नहीं देता था। पर इतना ज़रूर था कि बड़े भइया गम्भीरता के आवरण के बाद भी हम छोटे भाई–बहनों की हर छोटी–बड़ी बात को समझते थे और ज़रूरत पड़ने पर बिना जताये मदद भी करते थे। शुभा दी उस समय ग्यारहवीं कक्षा में थीं। जब पहली बार कुमुदनी दी जो की उनकी सहपाठी थीं, हमारे घर आई थीं। और घर पर जब अचानक अनिकेत भइया का उनसे आमना–सामना हुआ तो दोनों अपलक एक दूसरे को आश्चर्य से देखते रहे फिर भइया झट से अप्रत्याशित रूप से तुरन्त घर से बाहर चले गये और काफ़ी समय बिताने के बाद ही लौट कर आये। हम सब को कुछ अटपटा सा तो लगा पर

भइया के स्वभाव को देखते हुये ज़्यादा ग़ौर करने लायक़ बात नहीं थी फिर कुछ दिन बाद शुभा दी को जो कुमुदनी दी से पता चला वो यह कि हाईस्कूल में कुमुदनी दी और भइया एक ही स्कूल में थे और एक दिन अनजाने में उनका पेन सही करते समय भइया ने कुमुदनी दी की शर्ट पर इंक डाल दी थी, और फिर कुमुदनी दी की शिकायत पर भइया को पूरी क्लास के सामने डाँट खानी पड़ी थी। उस दिन के बाद से स्कूल के आख़िरी दिन तक भइया ने कुमुदनी दी से बात नहीं की थी पता नहीं गुस्से से या शर्म से। ख़ैर जो भी हो उस समय इस बात पर हम सब भाई–बहन ख़ूब कानाफूसी करते थे और भइया कनखियों से हमारी तरफ़ देखते रहते। कुमुदनी दी अक्सर दी के साथ घर आती थीं। हम सब के साथ उनकी ख़ूब पटती थी, और भइया भी अब भागते नहीं थे बल्कि अब तो उस समय पर बहुत आवश्यक न हो तो घर से बाहर जाना ही नहीं चाहते थे। समय अपनी रफ़्तार से चल रहा था, और हम सब समय की नाव पर सवार हल्के और तेज़ हवा के झोंकों से लड़ते हुये, लहरों से पैदा हुई डगमगाहट से सामंजस्य बनाते हुये समय के साथ बढ़ते जा रहे थे।

बहुत कुछ बदल गया था बचपन से जवानी के बीच के इस समय में पापा नहीं रहे, असमय ही हमारे घर का मज़बूत आधार स्तम्भ ढह गया था। माँ और बड़े भइया ने घर की बागडोर अपने हाथों में ले ली। भइया पहले से ज़्यादा गम्भीर और शान्त हो चुके थे। हाँ, इतने वर्षों में कुछ नहीं बदला तो वह थीं कुमुदनी दी। शुभा दी की शादी के बाद भी वह हमारे घर बराबर आती रहती थीं, भले ही मैं उन्हें दी कहती थी पर वह मुझसे दोस्ताना रवैया ही रखती थीं। माँ को अगर हम भाई–बहनों के अलावा कोई माँ कहता था तो वो कुमुदनी दी थीं। उनका आना इसलिए भी और अच्छा लगता था कि हमेशा सोच में डूबे रहने वाले भइया भी कुमुदनी दी की उपस्थिति में ख़ुश दिखते थे, बस दिखते ही नहीं थे वास्तव में होते थे कम से कम मैं तो यह महसूस ही कर पाती थी। कभी–कभी हम सब के साथ वह भी बातचीत में शामिल हो जाया करते थे जो हम सब के लिये एक सुखद आश्चर्य से कम नहीं होता था। शुभा दी की शादी के बाद

सबकी ज़िद और किसी हद तक परिवार की ज़रूरत ने भइया को मजबूर कर दिया शादी करने को। जल्दी ही माँ ने एक लड़की पसंद की और पूरे उल्लास के साथ भइया की शादी हो गई। कुमुदनी दी ने भी शादी के हर काम में बढ़–चढ़ कर काम किया। मँगनी से लेकर शादी से बाद की रस्मों तक।

भइया की शादी के बाद कुमुदनी दी का पहले की तरह घर आना–जाना कम हो चुका था, मैं इस बात को किसी सिरे से जोड़ कर देख पाती, माँ और भइया ने मेरी भी शादी तय कर दी। मैं ब्याह कर दूसरे शहर आ गई। फिर तो अपने परिवार और गृहस्थी में डूबी मैं, कुमुदनी दी का आना–जाना तो दूर की बात, उन्हें ही भूलने लगी।

समय बीतता रहा और अपने साथ अच्छी और बुरी यादों को बचाता रहा, इसी बीच एक बार मायके जाने पर माँ ने बताया कि कुमुदनी दी की भी शादी हो गई। कुमुदनी दी ख़ुद माँ को कार्ड देने आई थीं। माँ से उन्होंने मुझे और दीदी को भी बुलाने की बात की थी पर माँ ने सोचा हम दोनों कहाँ अपनी गृहस्थी से समय निकाल पायेंगे और हमें कोई सूचना नहीं दी। वैसे मुझे भी कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा इस बात से, इसलिये माँ को कोई उलाहना भी नहीं दिया इस बात का। इसी तरह कब सोलह–सत्रह साल बीत गये पता ही नहीं चला। अब तो हम सब के बच्चे भी बड़े–बड़े हो गये थे। एक दिन शुभा दी का फ़ोन आया तो बातों ही बातों में उन्होंने बताया कि पता नहीं कैसे, कुमुदनी ने उनका नम्बर पता कर लिया और उन्हें फ़ोन किया था। कई सालों बाद दोनों सहेलियाँ एक दूसरे से बातें कर बहुत ख़ुश हुई थीं, शुभा दी की बातों से ज़ाहिर था कि उन्हें बहुत अच्छा लगा। न जाने क्यों मैंने शुभा दी से कुमुदनी दी का नम्बर माँग लिया और एक दिन फ़ुर्सत में उस नम्बर को डायल कर दिया। उधर से कुमुदनी दी ने ही फ़ोन उठाया और जब मैंने कहा, 'पहचानिये तो ज़रा मुझे' कुमुदनी दी की हर्ष मिश्रित आवाज़ सुनाई दी। 'छोटी' ये तू है न। मैं सुखद आश्चर्य से भर उठी। और कुमुदनी दी दूर बैठी मुझे ख़ूब सारे उलाहने देती रहीं, पर हर उलाहने में उनके भीतर का प्यार उमड़ रहा था।

न जाने क्यों उनसे बातें करते करते कब आँख भर आई पता ही नहीं चला, शायद कुमुदनी दी की भी। फ़ोन रखने से पहले उन्होंने, सबके बारे में पूछा, भइया के बारे में, शशांक के बारे में माँ के बारे में। ज़िन्दगी सामान्य हो कर चले, यह बात ज़िन्दगी को भी रास नहीं आती। एक दिन जीजा जी का फ़ोन आया कि तुम्हारी शुभा दी को कल रात अचानक तेज़ बुख़ार आया और आज सुबह ही हॉस्पिटल में उनकी मृत्यु हो गई है, मैं अवाक् रह गई। जो जहाँ था वहाँ से दी के घर पहुँचने का प्रयास करने लगा। वहाँ पहुँच कर बस यादें ही हाथ आईं। तेरहवीं तक हम सब वहीं रहे। तेरहवीं में कुमुदनी दी भी आईं, उन्हें देखते ही मैं उनसे लिपट कर रो पड़ी, वह रोती भी जाती थीं और मुझे दिलासा भी देती जाती थीं। न जाने क्यों पर कुमुदनी दी को मुझसे कुछ अलग सा लगाव था, और मुझे भी। वह कुमुदनी दी से मेरी आख़िरी मुलाक़ात थी उसके बाद कुमुदनी दी से दोबारा मिलना नहीं हुआ। वो दिल्ली में स्वास्थ्य विभाग में कार्यरत् थीं उनके पति की कुछ साल पहले ही मौत हो चुकी थी। बच्चे थे नहीं, बाद के दिनों में माँ से पता चला कि माँ की तरह–तरह की बीमारियों की हमेशा चलने वाली दवायें अक़्सर कुमुदनी दी पार्सल से भेज दिया करती थीं। माँ अगर कुछ कहना भी चाहतीं तो कुमुदनी दी उनसे कह देतीं, ''माँ मैं भी तो शुभा जैसी हूँ तुम्हारे लिये'' और माँ को चुप रह जाना पड़ता। भइया का तबादला गाँव हो गया था, भाभी यहाँ माँ के साथ थीं, बच्चों की पढ़ाई के कारण भी और माँ के अकेलेपन के कारण भी।

एक दिन शशांक का फ़ोन आया और वही बचपन की कानाफूसी जैसी बातें, पता चला कि दीदी के न रहने पर जब सब दीदी के यहाँ इकट्ठे हुए थे तो वापसी में भइया पूरे सफ़र में किसी से चैटिंग करते रहे थे, आमतौर पर ऐसा कभी नहीं हुआ था तो शशांक ने उत्सुकता में किसी तरह उनका मोबाइल लेकर पूरी चैटिंग कॉपी कर के अपने मोबाइल में सेव कर ली थी और वह मोबाइल नम्बर भी। जब उसने चैटिंग के शब्दों का अर्थ मुझे बताया तो मुझे भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम सब को कभी क्यों नहीं पता चला कि अनिकेत भइया का कभी किसी से कोई अफ़ेयर भी था और

जैसे ही उस नंबर को मैंने अपने मोबाइल में डायल किया दूसरा आश्चर्य मेरे सामने था, वो नंबर पहले से ही मेरे पास सेव था वह कुमुदनी दी ही थीं। मैंने तुरन्त शशांक को फ़ोन कर उसे यह बात बताई और यह भी कि भइया को कभी नहीं पता चलना चाहिये कि हम दोनों यह जानते हैं। उनसे उनकी अधूरी ख़ुशियों को छीनने का हमें कोई हक़ नहीं है। फिर एक दिन कुमुदनी दी का फ़ोन आया तो मेरी आवाज़ में उनके लिये पहले से ज़्यादा मिठास थी, शायद उन्होंने भी महसूस किया हो। उन्होने बताया कि वो किसी संस्था के काम से तीन दिन बाद गुजरात जाने वाली हैं। उधर अगले ही दिन शशांक का फ़ोन आया जो मेरे मना करने के बावजूद चोरी छिपे भइया की चैटिंग अभी भी पढ़ रहा था कि भइया तीन दिन बाद कुमुदनी दी से मिलने गुजरात जाने वाले हैं। इन सब के बाद भी हम दोनों ख़ुश थे कि कम से कम दोनों अपने मन की बात तो एक–दूसरे से कह पाए, तो क्या हुआ जो दोनों अलग–अलग नावों पर सवार हैं। उम्र के इस पड़ाव पर आ कर यह बुलावा भी उस झोंके जैसा है जो उनकी ज़िन्दगी को कुछ और आगे तक ले जायेगा। बहक जाने का कोई डर नहीं था क्यों कि बहक जाने की उम्र दोनों बहुत पीछे छोड़ आये थे। जिस दिन उन दोनों को मिलना था उसी सुबह एक अन्जान नंबर से फ़ोन आया कि कुमुदनी दी की अचानक दिल का दौरा पड़ने से मृत्यु हो गई है, इमरजेन्सी में उन्होंने जो नम्बर लिखाये थे उनमें आप का भी नंबर था।

मैं निःशब्द रह गई, फ़ोन काट कर बिना कुछ सोचे–समझे मैंने भइया को फ़ोन कर दिया वह एयरपोर्ट पर फ़्लाइट के इंतज़ार में थे। जैसे ही मैंने भइया को कुमुदनी दी के न रहने की सूचना दी, वह अनजान बन बोल उठे, अच्छा कब, कहाँ, कैसे, तुझे कैसे पता ? मुझे लगा यह सब मुझसे पूछते हुये वह रो रहे थे, पर मैं उनसे कुछ नहीं पूछ पाई। कुछ देर बाद ही शशांक का फ़ोन आया कि भइया ने फ़्लाइट पकड़ ली है गुजरात की, पर अब कुमुदनी दी को आख़िरी बार देख पाने की लालसा से, यह भी कि तुम्हारे फ़ोन आने से पहले उनके पास भी हॉस्पिटल से फ़ोन आ गया था कुमुदनी दी के लिखाये हुये नंबरों में एक नम्बर उनका भी था। मेरा मन

किया कि मैं तुरन्त गुजरात पहुँच जाऊँ या फिर शशांक को जाने को कह दूँ, मगर फिर नहीं कहा। सोचा कि उनकी पूरी ज़िन्दगी संकोच में बीती पर यह पल उनके नितांत अकेले रहने चाहिये। कुमुदनी दी तो अब कुछ न कह सकेंगी कभी, पर भइया तो कह सकते हैं उनसे, उन्हें कह लेने दो, मेरे या शशांक के सामने रहने पर वह यह भी न कह पाएँगे। क्या हुआ जो जीते जी नहीं मिले दोनों, इस एक आख़िरी पल में ही मिलना लिखा था तो हम बाधा क्यों बनें। पहले प्यार की छुअन को महसूस करना क्या होता है, आज उन्हें महसूस कर लेने दो, अपनी कुमुद को अपनी बाहों में भर कर आज सब कह लेने दो, आज अपनी कुमुद के जाने पर एक नेहासिक्त चुंबन अंकित कर उसे विदा कर लेने दो। आज संकोच न करना भइया, अगर आँखे भर आयें तो चुपके से पोछना भी मत हमेशा की तरह। आज कोई नहीं होगा, होगे तो बस तुम और कुमुदनी दी, और तुम्हारा प्यार, अपनी कुमुद को अपनी बाहों में भर कर आज सब कह लेना, प्यार की परिभाषा बड़ी अजीब है मिलन में तो ठहराव है पर बिछड़न में वह बेक़ाबू हो जाता है। क्या पता दोनों ने कभी एक दूसरे से कोई वादा किया हो, उन्हें वह सब याद कर लेने दो। हो सकता है उन वादों की पूर्णता में जीवन मरण की शर्त न रही हो, न रही हो तो उन सब को पूरा हो जाने दो। अनिकेत भैया पता है तुम कभी कुछ नहीं कहोगे, वैसे ही स्थिर शान्त रहोगे, पर तुम्हारी यह शान्त प्रकृति अब मुझे रुलाये देती है। आज समझ आता है कुमुदनी दी का अपनापन, उसके पीछे भइया का प्यार ही था, जो उन्हें हमसे और माँ से जोड़े हुये था। तुम नहीं हो कुमुदनी दी, ज़िंदगी फिर भी चलती रहेगी, हाँ, इतना ज़रूर है कि शायद बहुत कुछ भूल जाऊँ मैं, लेकिन तुम याद रहोगी।

—o—

ख़ुदकुशी

क्या हर बार वही सही होता है जो आँखें देख पाती हैं। यह समाज एक जगह खड़ा होकर जो कहने लगता है क्या उससे अलग कोई सच नहीं हो सकता। कौन जान पाता है, किसने देखा होता है सच। हम तो बस सुनी सुनाई बातों को मन में रखकर कल्पनाओं का एक चलचित्र बनाकर उस बात को सही साबित करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं जिसकी सत्यता हमें स्वयं पता नहीं होती है।

जिस दिन उसका ख़त मिला उससे दो दिन पहले ही उसकी मौत की सूचना मिल चुकी थी। मौत का कारण था खुदकुशी। उसकी जीवन्तता जो दूसरों को भी निराशा से उबार लेती थी उसकी जीवटता जो औरों में साहस भर देती थी उसकी सपनीली आँखें जो दूसरों को भी कुछ सपने दिखा जाती थीं।

जितना मैं उसे जानता था उसके बाद उन परिस्थितियों को समझ पाना बेहद कठिन था कि उसने क्योंकर आत्महत्या की होगी, वह जो जीवन से इतना मोह रखता था। प्रश्न अपने आप से था और उत्तर नदारद इससे पहले कि मैं किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकता उसका ख़त मुझ तक पहुँच गया। न जाने क्यों उसे लगा कि उसे मुझसे ही अपना दर्द कहना चाहिए। न जाने कैसे उसने जान लिया कि वह मैं ही होऊँगा जो उसकी आत्महत्या के कारणों को जानने का प्रयास करूँगा या कम से कम कुछ प्रश्नों के जवाब ढूँढना चाहूँगा। ख़त क्या था समाज पर प्रश्नचिन्ह था हमारी दूषित मानसिकता को दिखाने वाला आईना था।

प्रकाश

न जाने क्यों तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ जो किसी को भी नहीं समझा पाया वह तुम ही समझ सकोगे यह उम्मीद करता हूँ, न भी समझ सकोगे तो कोई शिकायत ना होगी फिर भी तुमसे कह दूँ यह मन कर रहा है।

पढ़ाई के बाद मैंने नौकरी केवल इसलिए की ताकि अम्मी–अब्बू को वह सुख दे सकूँ जो एक बेटे को अपने माँ–बाप को देना चाहिए निकाह के कुछ ही सालों बाद बच्चे को जन्म देते समय मैंने अपनी पत्नी और बच्चे दोनों को खो दिया, अम्मी के लाख कहने पर दूसरा निकाह करना मुझे मंज़ूर नहीं हुआ। मेरे जीवन का एकाकीपन शायद अम्मी बर्दाश्त न कर सकीं और जल्दी ही मुझे और अब्बू को छोड़कर जन्नतनशीं हो गईं। इससे पहले कि मैं और अब्बू एक दूसरे को समझ पाते एक दूसरे का सहारा बन पाते अब्बू का भी इन्तक़ाल हो गया। उनके जाने के बाद मैंने अपनी नौकरी छोड़ कर शहर का मकान बेच दिया और अपना सब कुछ लेकर दूर–दराज़ के गाँव में बस गया। जहाँ मैंने अपने पैसों से एक स्कूल खोला, ताकि अपनी ज़िन्दगी उन लोगों को तालीम देने में बिताऊँ जो इससे महरूम हैं ना तो मेरा कोई रिश्तेदार था ना कोई वारिस तो भविष्य के लिए कुछ जोड़ूँ यह सोच पैदा नहीं हो पाई यहाँ तक तो तुम्हें हर बात पता है जो नहीं पता वह आगे लिख रहा हूँ। गाँव का एक तबका मेरे इस काम से ख़ुश नहीं था वह नहीं चाहते थे कि मैं उन्हें शिक्षित करूँ जो उनके यहाँ मज़दूरी करते हैं इसलिए कि कहीं थोड़ा बहुत पढ़–लिख कर उनकी मज़दूरी से मना न कर दें। उनके माँ–बाप भी गाहे–बगाहे आकर अपनी समस्याएँ मुझसे कहते रहते और मुझसे जो कुछ बन पाता मैं उन्हें देता रहता, कई बच्चे पढ़ने आते थे लड़के लड़कियाँ सभी। जो बच्चे पढ़ाई में कमज़ोर थे उन्हें शाम को अलग से भी पढ़ाता था। ऐसी ही एक लड़की थी शामली जो शाम को भी आया करती थी क्योंकि बच्चों की पूरी ज़िम्मेदारी मुझ पर थी और सबका विश्वास भी था तो कोई चिंता नहीं करता था। एक दिन शाम की ट्यूशन के बाद विद्यालय बन्द कर मैं अपने

घर की तरफ़ निकल रहा था तो मैंने देखा शामली स्कूल से थोड़ा आगे के एक खेत में जा रही है मुझे कुछ चिंता हुई क्योंकि शाम हो रही थी गाँव का माहौल और सन्नाटा मुझे लगा शायद उसे टॉयलेट जाना होगा इसलिए मैं वहीं खड़ा हो गया ताकि उसे साथ ही लेता चलूँ पर धीरे–धीरे 15 मिनट हो गए तो मन में थोड़ी शंका हुई मैं भी खेत के अन्दर की तरफ बढ़ने लगा। जब थोड़ा आगे बढ़ा तो देखा कि खेत के अंदर से धीरे–धीरे बातचीत की आवाज़ आ रही थी मैंने जल्दी–जल्दी पर सतर्कता से अपने क़दम उस ओर बढ़ाए बीचो–बीच पहुँचकर देखा कि शामली अर्धनग्न अवस्था में किसी लड़के के साथ लिपटी हुई थी उसे इस तरह देख शर्म और ग़ुस्से से मैं उसका नाम लेकर चीख़ पड़ा मुझे देख कर वह लड़का तो उसी हालत में खेत के बाहर भागा और मैं शामली को डाँटने लगा। मुझे इतनी भी सुध ना रही कि उसे कपड़े पहनने को कहकर उस जगह से पहले बाहर निकलूँ और जब तक मैं यह सोच पाता तब तक चार–पाँच लड़के वहाँ पहुँचे और मुझ पर टूट पड़े जब होश आया तो ख़ुद को पूरे गाँव वालों से घिरा पाया। शामली का बाप मुझे खा जाने वाली निगाहों से घूर रहा था सबकी आँखों में क्रोध और घृणा थी शामली के बाप ने मेरी पीठ पर लात मारते हुए कहा, ''यही पढ़ाने के लिए बुलाते थे यहाँ गाँव की बहू–बेटियों को?'' मैंने शामली की तरफ़ देखा तो वो बस अपनी माँ से लिपटी रो रही थी थोड़ी देर में पुलिस आई और मुझे ले गई। मैं अपनी सफ़ाई देना चाहता था गाँव वालों को, पर शायद देर हो चुकी थी वह मेरे बारे में अपनी राय पुख़्ता कर चुके थे। मेरी बातों के लिए उनके पास स्थान नहीं था पुलिस ने भी मेरी नहीं सुनी और मुझे मारा–पीटा अलग। उस पर मेरा मुसलमान होना भी उनकी सोच को हवा दे रहा था। वहीं पता चला कि शामली ने अपने बयान में कहा है कि मास्टर जी ने ट्यूशन के बाद उसे रुकने को कहा था और घर तक साथ चलने की बात कह कर उसे खेत की तरफ़ ले गए और उसके साथ बलात्कार करने की कोशिश की। वह तो अच्छा हुआ कि गाँव के चौधरी का बेटा अपने कुछ दोस्तों के साथ उधर से जा रहा था और मेरी चीख़ पुकार सुनकर आ गया

और मास्टर जी से मुझे बचा लिया। अब मेरा कुछ कहना सुनना बेकार था मेरा गवाह या तो मैं स्वयं हूँ या मेरा ख़ुदा। मैं ग़लत नहीं हूँ, इस सोच के साथ जी सकता हूँ पर आख़िर किसके लिए। मैं बस यही सोचता रहा कि मैंने जीवन में क्या ग़लत किया था, जिसका मुझे यह सिला मिला। मैं किसी को इल्ज़ाम नहीं देना चाहता, न समाज को न अपने ख़ुदा को मगर इस तोहमत को लेकर जीना भी नहीं चाहता वैसे तो मेरा कोई नहीं है जिसके सामने मैं शर्मिंदा होऊँ पर मेरी परछाई तो है न, आईना जिसमें मैं अपना अक्स देखता हूँ, वह तो है मैं अपने आप से शर्मिंदा हूँ। प्रकाश जब तक तुम्हें यह ख़त मिलेगा मैं दुनिया से जा चुका होऊँगा। तुम्हें यह ख़त क्यों लिखा नहीं जानता शायद एक तुम ही ऐसे रह गए थे जिसके सामने मुझे शर्मिंदगी हो सकती थी इसलिए जा रहा हूँ दोस्त हो सके तो मुझे माफ़ कर देना मैं कायर नहीं हूँ पर इस तोहमत के साथ जीता रहूँ इतना हिम्मती भी नहीं हूँ।

अलविदा

तुम्हारा दोस्त

अशरफ़

◀ ◀ ▶ ▶